ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला—हिन्दी ग्रन्थाङ्क—११५

रेडियो-वार्त्ता-शिल्प

सिद्धनाथ कुमार



भारतीय ज्ञानपीठ • काशी

ज्ञानपीठ-लोकोदय-ग्रन्थमाला
सम्पादक और नियामक
श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन

प्रथम संस्करण
१९६१
मूल्य दो रुपये

प्रकाशक
मन्त्री भारतीय ज्ञानपीठ
दुर्गाकुण्ड रोड वाराणसी

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
सन्मति मुद्रणालय वाराणसी

हिन्दीके सुप्रसिद्ध नाटककार

तथा

आकाशवाणीके महानिदेशक

श्री जगदीशचन्द्र माथुर

को

सादरसहित

निवेदन

१९५१ में जब मेरी नियुक्ति आकाशवाणी पटनाके वार्ता-विभागमें हुई, तब मुझे रेडियो-वार्ताको निकटसे देखने और उसका अध्ययन करनेका अवसर मिला। यों वार्ताएँ मैं बहुत पहलेसे सुनता आ रहा था और उनके प्रति श्रोताओंकी तिरस्कारपूर्ण प्रतिक्रियाएँ भी देखता आ रहा था। रेडियोके निकट रह कर मैंने अनुभव किया कि रेडियो-वार्ताकी सम्भावनाएँ कितनी बड़ी हैं और उनका उपयोग कर कोई वार्ताकार किस प्रकार अपनेसे दूर रहनेवाले हजारों व्यक्तियोंसे निकट सम्पर्क स्थापित कर सकता है। रेडियो वार्ताका क्षेत्र भी रेडियोसे प्रसारित विभिन्न प्रकारकी रचनाओंकी अपेक्षा बहुत व्यापक है। कविता, कहानी, नाटक आदिकी रचना केवल साहित्यकार ही करते हैं, पर रेडियो-वार्ता साहित्यसे परे रहनेवाले वैज्ञानिक, राजनीतिक, प्राध्यापक आदि सभी वर्गोंके व्यक्तियोंको प्रसारित करनी पड़ती है। पर यह आश्चर्यकी बात है कि प्रसारणके इतने वर्षोंके बाद भी हमारे यहाँ रेडियो-वार्ताके सम्बन्धमें अभी तक गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया गया है। कहना तो यह चाहिए कि अभी तक रेडियो-वार्ता बड़े हल्के ढंगसे देखी जाती रही है, किसी वार्ताकारको आकाशवाणीकी ओरसे वार्ता-प्रसारणके लिए आमन्त्रित किया गया और उसने दो-तीन घंटेमें वार्ता लिखकर प्रसारित कर दी। ऐसी स्थितिमें वार्ताएँ यदि अनाकर्षक होती हैं और श्रोताओं द्वारा उनका स्वागत नहीं होता, तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं दीखती। लेकिन रेडियो-वार्ताओंकी सम्भावनाओंको देखते हुए इस विषयपर गम्भीरतासे विचार होना चाहिए, ऐसा मुझे लगा। प्रस्तुत पुस्तकमें मैंने यही करनेका प्रयत्न किया है।

निवेदन

यों रेडियोसे मेरा सम्बन्ध (निकट या दूर का) पिछले बारह वर्षोंसे रहा है, पर प्रसारण-जैसे गम्भीर विषयपर विचार करनेके लिए इतना छोटा-सा अनुभव पर्याप्त नहीं होता। फलतः मैंने पाश्चात्य देशोंके हिल्डा मैथिसन, क्रियोलेस पैमफिन, केनेट बनबार, रीमर मैनवेक, एल्मान ऐण्ड डोरोथियन एकम, एच॰ आर॰ विलियमशाम, जॉन एस॰ कार्लाइल-जैसे प्रसिद्ध प्रसारणकर्ताओंके अनुभवोंसे सहायता ली है। इंग्लैण्ड और अमेरिकामें रेडियो-वार्ताके सम्बन्धमें काफी विचार हुआ है। यहीं यह कह दिया जाय कि प्रसारणके नियम सभी देशोंमें समान हैं, हर देशकी प्रसारण सम्बन्धी अपनी-अपनी कोई प्राचीन परम्परा नहीं है। अपनी 'दि रेडियो टॉक' पुस्तकमें केनेट बनबारने कहा है—'मेरी इन विभिन्न देशोंके प्रोड्यूसरों और प्रसारण-कर्ताओंके साथ विचारपूर्ण और प्रेरक बातचीत हुई है: अमेरिका, कनाडा, दक्षिण अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, पाकिस्तान, टर्की, श्रीलंका, भारत, बेल्जियम, स्पेन, नार्वे, डेनमार्क और बोलीविया। इनमेंसे कुछके साथ हुए विचार-विमर्शके बाद अपने मौलिक अध्ययनसे मुझे पता चला कि एक चीज बहुत स्पष्ट दिखायी पड़ती है—अच्छी रेडियो-वार्ताके सिद्धान्त प्रत्येक देश और प्रत्येक भाषाके लिए समान हैं।' जिन देशोंमें रेडियो-वार्ताकी कलापर विशेष ध्यान दिया गया है, उनके अनुभवी प्रसारणकर्ताओंके विचारोंके आधारपर मैंने इस पुस्तकमें अच्छी रेडियो-वार्ताके सिद्धान्तोंको ही प्रस्तुत करनेकी कोशिश की है।

उदाहरण-रूपमें आये उद्धरणोंके अतिरिक्त जितने अंश पुस्तकमें उद्धृत किये गये हैं, सभी अंग्रेजीसे अनुवादित करके, इसलिए कि केवल हिन्दी जाननेवाले पाठकोंको भी पुस्तक समझनेमें कहीं कोई कठिनाईका अनुभव न हो। अंग्रेजीके मूल उद्धरण जान-बूझकर छोड़ दिये गये हैं।

यह सोचकर कि रेडियो-वार्ताका सम्बन्ध उन लोगोंसे भी है, जो साहित्यकार नहीं हैं, लेखन-कार्य जिनका नियमित पेशा नहीं है, पुस्तकमें

लेखन-कला-सम्बन्धी विषयोंको पर्याप्त उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया गया है जिससे नये वार्त्ताकार भी लाभान्वित हो सकें।

पुस्तकमें अधिक उदाहरण भारत-सरकारके पब्लिकेशन्स डिवीजन द्वारा प्रकाशित 'रेडियो-संग्रह प्रसारिका' और 'आकाशवाणी प्रसारिका' में छपी रेडियो-वार्त्ताओंसे लिये गये हैं। लेखक इनके सौजन्यको साभार स्वीकार करता है जिन अन्य स्थलोंसे भी उदाहरण लिये गये हैं उनके प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है।

उदाहरणोंके सम्बन्धमें यह निवेदित करना उचित लगता है कि उदाहरण देते समय किसी रचनाकारकी निन्दा या प्रशंसा करना लेखकका उद्देश्य नहीं रहा है। उसने रचनाकारोंको अपने सामने रखा ही नहीं है, केवल उनकी कृतियोंको देखा है, और सैद्धान्तिक कसौटीपर जो जहाँ उचित ज्ञात हुई है उसको वहाँ रख दिया है। उन सब लेखकोंके प्रति लेखक कृतज्ञ है, जिनकी रचनाओंके उद्धरण इस पुस्तकमें आये हैं।

—सिद्धनाथ कुमार

विषय-सूची

०

God forbid that I should set up for a teacher ! I purpose merely to confide to my readers what little I have learned............ reminding them meanwhile that even in the least important books one sometimes finds small matters deserving attention.

—Carlo Goldoni
(Italian Dramatist)

रेडियो-वार्त्ता साहित्यका एक नया रूप

'मैं आपसे रेडियो-लेखनके सम्बन्धमें कुछ बातचीत करूँगा। हमारी यह बातचीत वैसी ही होगी जैसी किसी पार्कमें होटलमें या ड्राइंग-रूममें बैठे दो-चार मित्रोंकी होती है। लेकिन अगर मुझसे अभी कुछ असावधानी हो जाय और आपको कागजकी खड़खड़ाहट सुनायी पड़ जाय तो आप सोचने लगेंगे शायद मेरे हाथमें कागजके कुछ पन्ने हैं शायद मैं आपसे बातचीत न करके इन पन्नोंको ही पढ़ रहा हूँ। आपका अनुमान सही होगा। आपसे मैं जो बातचीत कर रहा हूँ, वह मौखिक नहीं लिखित है। मेरी यह वार्त्ता लिखित कृति है रचना है। आप रेडियो सुनते हैं तो आपने यह 'वार्त्ता' शब्द बार-बार सुना होगा। लेकिन 'साहित्य-दर्पण' या 'रस-गंगाधर' या साहित्य-शास्त्रके किसी भी प्राचीन ग्रन्थमें इसकी चर्चा नहीं मिलेगी। बात यह है कि अभी १०—१५ वर्ष पहले तक 'वार्त्ता' नाम की रचनाका अस्तित्व नहीं था। रेडियोके आविष्कारके बाद इसका जन्म हुआ है, केवल इसीका नहीं, रेडियोके लिए लिखित साहित्यके कई और रूपोंका भी जन्म हुआ है।—इन पंक्तियोंसे इस लेखकने दो वर्ष पहले 'साहित्यके नये रूप' वार्त्ताक्रममें प्रसारित अपनी 'रेडियो-लेखन' शीर्षक वार्त्ता प्रारम्भ की थी। सचमुच रेडियोके आविष्कारने रेडियो-नाटक रेडियो-रूपक आदि जिन नये साहित्य-रूपोंको जन्म दिया है, उनमें रेडियो-वार्त्ताका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। देशी या विदेशी, कोई भी रेडियो-स्टेशन

नहीं है, जहाँसे रेडियो-वार्ताएँ नहीं प्रसारित की जातीं। इनका महत्त्व इस तथ्यसे ही समझा जा सकता है कि १९५९ में आकाशवाणीके विभिन्न केन्द्रोंसे प्रसारित वार्ताओं एवं परिसंवादोंकी संख्या ४९४९ थी। यह संख्या केवल अपने देशके लिए प्रसारित कार्यक्रमोंकी है, विदेशोंके लिए प्रसारित कार्यक्रमोंमें हुई वार्ताओंकी संख्या अलग है। ग्रामीण क्षेत्रों बालकों तथा स्त्रियोंके कार्यक्रमोंमें प्रसारित वार्ताओंकी संख्या भी इसमें नहीं जोड़ी गयी है। १९५९ के बाद तो आकाशवाणी-केन्द्रोंकी संख्या और भी बढ़ी है उसके साथ ही प्रसारित कार्यक्रमोंकी संख्यामें भी वृद्धि हुई है। १९५८ के वार्षिक विवरणसे ज्ञात होता है कि विभिन्न केन्द्रोंसे प्रति वर्ष अंग्रेजी तथा प्रादेशिक भाषाओंमें दस हजारसे अधिक वार्ताएँ प्रसारित की जाती हैं।

रेडियो-वार्ताओंका यह महत्त्व केवल संख्याकी दृष्टिसे है गुणकी दृष्टिसे नहीं। रेडियो-कार्यक्रमोंमें सम्भवतः सबसे अनाकर्षक और नीरस रेडियो-वार्ताओंको ही समझा जाता है। रेडियो सुनते समय कोई वार्ता शुरू हुई नहीं कि मित्र कह बैठते हैं—'अरे, यह तो वार्ता शुरू हुई कहीं दूसरी जगह लगाओ, कहीं गीत-वीत देखो।' पच्चीस वर्षोंके संगठित प्रसारणके बाद भी हमारे यहाँकी वार्ताओंमें इतनी शक्ति नहीं आ पायी है कि वे श्रोताओंका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर सकें। आदर्श प्रसारणकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो विदेशी प्रसारण-केन्द्रोंको भी पूर्णतः सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता है। निकोलैस पैमलिन अपनी पुस्तक 'यू आर ऑन दि एयर' [प्रकाशन-काल १९४०] में बी० बी० सी० के कार्यक्रमोंको आदर्श प्रसारणकी कसौटीपर परखते हुए कहते हैं—'यह स्वीकार करना पड़ेगा कि कम्पनीके लगभग चतुर्थांशके प्रसारणके बाद भी असफल कार्यक्रमोंकी संख्या सफल कार्यक्रमोंकी अपेक्षा अधिक है।

अपने यहाँ रेडियो-वार्ताओंको जो कलात्मक एवं आकर्षक रूप मिल जाना चाहिए था वह नहीं मिल सका है। इसका मुख्य कारण यह है कि

हमारे यहाँके अधिकांश लोगोंने यह स्वीकार नहीं किया है कि रेडियो-वार्ता साहित्यका एक बिलकुल नया रूप है—ऐसा रूप, जो रेडियोके आविष्कार के पूर्व नहीं था। लोग पहले रेडियो-नाटकको जैसे रंगमंच-नाटकसे भिन्न नहीं समझते थे, वैसे ही रेडियो-वार्ताको निबन्ध या लेखसे भिन्न नहीं मानते हैं। यह प्रसन्नताकी बात है कि अब रेडियो-नाटक रंगमंच-नाटकसे भिन्न समझा जाने लगा है। लेकिन रेडियो-वार्ताके सम्बन्धमें अभी ऐसी बात नहीं है। अभी भी आकाशवाणी-केन्द्रोंमें पाद-टिप्पणियोंसे भरी ऐसी रचनाएँ प्रकाशित ही प्रसारणार्थ आती रहती हैं जिन्हें लेख या प्रबन्धके अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता और जिनका पाठ किया जाय तो कम-से कम ४०—५० मिनट अवश्य लगें। अभी भी ऐसे व्यक्ति मिलते हैं जो बातचीतके प्रसंगमें कहते हैं—मैं भी रेडियोसे एक निबन्ध प्रसारित करना चाहता हूँ। यह बात नहीं कि ऐसे निबन्ध आकाशवाणीसे प्रसारित नहीं होते होते हैं, और वार्ताके नामपर अधिकतर निबन्ध ही प्रसारित होते हैं। इस साधारण-सी बातपर भी ध्यान नहीं दिया जाता कि रेडियोसे प्रसारित रचनाएँ मात्र श्रव्य होती हैं, और उनकी सफलता अपने श्रव्य रूपमें ही बोधगम्य होनेमें है। उदाहरणके लिए कुछ प्रसारित वार्ताओंके अंश प्रस्तुत हैं। 'कलाके क्षेत्रमें यथार्थ और कल्पना' शीर्षक वार्ताका एक अंश इस प्रकार है—

"इस प्रकार कला-सृष्टिका क्रमबद्ध रूप यों बनता है—

कला सृष्टि

मूल

: अन्तरका प्रदृप्त आवेग या भाव

शरीर

पदार्थोंके साथ उस भावका सम्बन्ध

और रूप-ग्रहण :

प्राण

सौन्दर्य : आन्तर एवं बाह्य

आत्मा

: रस :

लक्ष्य या फल

: आनन्द :'

[आकाशवाणी प्रसारिका अप्रैल-जून १९५६]

एक दूसरी वार्त्ता मरुस्थलमें मनोरंजनके साधनका एक अंश उद्धृत है—
'इस प्रकार समाजका मनोरंजन करनेवाली उल्लेखनीय जातियाँ निम्न हैं—

१ कुचामन परबतसरके कठपुतली नचानेवाले नट।
२ डीडवाना तथा परबतसरके आस-पास रहनेवाले तेरह तालवाले।
३ जालोर-बाड़मेर आदिके कच्छी घोड़ी नचानेवाले सरगरे कुम्हार आदि।
४ बीकानेर चूरू, पोकरण तथा फुलेराके भोपे हड़बूजीके भोपे, मेहाजीके भोपे और गोगाजीके भोपे।
५. जैसलमेर बाड़मेरके लंगे तथा मिरासी।
६ जालोरके सरगरे तथा ढोली।

उपर्युक्त सब जातियोंका प्रमुख कार्य गायन वादन नृत्य और नाट्य द्वारा अपने यजमानोंका मनोरंजन करना है।'

[आकाशवाणी प्रसारिका जनवरी-मार्च १९५६]

पहला उद्धरण अपने श्रव्य रूपमें कैसे बोधगम्य हो सकता है इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। दूसरे उद्धरणमें जो इतने नाम एक साथ गिनाये गये हैं उन्हें केवल एक बार सुनकर श्रोता क्या उन्हें स्मरण रख सकता है? १ २ ३ आदि क्रमांकोंके पाठसे श्रोता क्या यह नहीं समझेगा कि वार्त्ताकार उससे बातचीत न कर उसे अपना निबन्ध सुना रहा है? इस

अंशमें आये 'निम्न' और 'उपर्युक्त' शब्द क्या इस तथ्यको प्रमाणित नहीं करते कि रचना श्रव्य नहीं पाठ्य है ? श्रव्य रचनामें तो ऊपर या नीचे नामकी कोई चीज नहीं होती । तात्पर्य यह कि हमारे यहाँसे अधिकांशतः निबन्ध ही प्रसारित किये जाते हैं । आकाशवाणीके भूतपूर्व डायरेक्टर ऑफ प्रोग्राम्स श्री सोमनाथ चिब 'द स्पोकेन वर्ड' शीर्षक अपने निबन्धमें आकाशवाणीसे प्रसारित अंग्रेजी वार्ताओंके सम्बन्धमें कहते हैं कि इनके अधिकतर आलेख [Scripts] निबन्ध-जैसे लगते हैं । हिन्दी वार्ताओंके सम्बन्धमें भी यह अक्षरशः सत्य है । ऐसी स्थितिमें यदि वार्ताएँ नीरस होती हैं और उन्हें लोग नहीं सुनना चाहते तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है ।

रेडियो-वार्ताओंकी वर्तमान स्थिति सन्तोषजनक नहीं है पर इसे परिवर्तित किया जा सकता है । वार्ताओंका स्वभाव नीरस और अनाकर्षक रहना नहीं है । सच कहा जाय तो वार्ताओंका स्वभाव सरस और मनोरंजक होना ही है । चार मित्र एक साथ बैठते हैं और आपसमें बातें करते हैं । क्या ये बातें नीरस होती हैं ? बात करनेकी कला जाननेवाला कोई मित्र अपने अनुभव सुनाने लगता है कभी-कभी गम्भीर विषयोंकी भी चर्चा छेड़ देता है तो क्या इससे वार्तालापमें नीरसता आ जाती है ? कदापि नहीं । रेडियोने तो हमें सामूहिक प्रेषणीयताका ऐसा अद्भुत साधन उपलब्ध करा दिया है कि हम एक स्थानपर बैठे एक ही साथ हजारों-लाखों व्यक्तियोंको अपने अनुभव सुना सकें उन्हें अपने विचारोंसे अवगत करा सकें । लेकिन यह तभी सम्भव है, जब हम रेडियोके माध्यमकी अपेक्षाओंको उसकी सीमाओं और सम्भावनाओंको समझें । आँखोंके दृश्य माध्यमके लिए लिखित रचनाओंको रेडियोके श्रव्य माध्यमसे प्रस्तुत करनेसे ऐसा नहीं होगा । संगीतका आनन्द हम आँखोंसे लेनेका प्रयास नहीं करते, पर आँखोंके लिए लिखित रचनाओंका आनन्द हम कानोंको देना चाहते हैं । हमारे यहाँकी रेडियो-वार्ताओंकी असफलताका यही रहस्य है । बी० बी० सी० के अनुभवी

वार्ताकारोंने रेडियोके अन्य माध्यमकी अपेक्षाओंको समझा है और उनके अनुरूप कार्य किया है। इसीलिए डेसमण्ड मेकार्थी, मार्कफोक्स डेविस ए० जे० एलन, जे० बी० प्रीस्टली आदि प्रसिद्ध वार्ताकारोंको लोग उत्सुकताके साथ सुनते रहे हैं।

रेडियो-वार्ताकारको सर्वप्रथम यह स्वीकार करना पड़ेगा कि रेडियो-वार्ता नये प्रकारकी रचना है, निबन्धसे यह बिलकुल भिन्न है। लिखित होनेपर भी यह मात्र श्रव्य है। जिस प्रकार कोई भी नाटक रेडियो-नाटक कहकर प्रसारित नहीं किया जा सकता उसी प्रकार कोई भी निबन्ध वार्ता कहकर नहीं प्रसारित किया जा सकता। मुद्रित निबन्ध और प्रसारित वार्तामें अन्तर है। जैसे प्रसारणके लिए रंगमंच-नाटकको रेडियो-नाटकके रूपमें रूपान्तरित करना पड़ता है उसी प्रकार निबन्धको भी यदि हम प्रसारित करना चाहें तो उसे वार्ताके रूपमें रूपान्तरित करना पड़ेगा। इसे उदाहरणसे स्पष्ट किया जा सकता है।

एक सज्जनको पंचवर्षीय योजनाओंमें संचार एवं परिवहनके विकास पर वार्ता प्रसारित करनेके लिए आमन्त्रित किया गया। उनकी वार्ता जो वास्तवमें एक निबन्ध ही थी का प्रारम्भिक अंश इस प्रकार था—

'शरीर-रचनामें जो स्थान शिराओं एवं धमनियोंका है वही स्थान राष्ट्रके जीवनमें संचार एवं परिवहनका है। आर्थिक युद्ध-सम्बन्धी प्रशासकीय सांस्कृतिक एवं सामाजिक सभी दृष्टियोंसे संचार एवं परिवहन राष्ट्रके समुत्थानके लिए अनिवार्य तत्त्व हैं। कदाचित् इसी दृष्टिकोणसे ब्रिटिश शासकोंने उन्नीसवीं शताब्दीमें ही भारतवर्षमें संचार एवं परिवहनका कार्य आरम्भ कर दिया था। तबसे इन साधनोंका निरन्तर विकास होता रहा है और अद्यावधि इस क्षेत्रमें आशातीत विकास हुआ है।

स्वाधीनता-प्राप्तिके बाद संचार एवं परिवहनके साधनोंका विकास उल्लेखनीय गतिसे हुआ है। प्रथम पंचवर्षीय योजनामें कृषि सिंचाई और शक्तिके साधनोंके साथ परिवहन और संचारका स्थान भी विकासके क्षेत्र

प्रमुख क्षेत्रोंमें रखा गया। इस योजनामें संचार एवं परिवहनके साधनोंके विकासके लिए अनुमानतः ५११·४६ करोड़ रुपयोंका व्यय हुआ।

देशमें संचार और परिवहनके प्रसारके लिए सरकारने उदार नीति अपनायी है। प्रथम योजनावधिमें डाक-तार विभागके लिए प्रायः ११·५ करोड़ रुपये खर्च किये गये हैं। सरकारकी यही योजना थी कि दो हजार जनसंख्यावाले दो मीलके अन्तरपर बसे हुए प्रत्येक गाँवमें डाकघर खोले जाएँ। इस योजनाके अनुसार डाकघरोंकी संख्या ११ हजारसे बढ़कर ५५ हजार हो गयी। द्वितीय पंचवर्षीय योजनाके अन्तर्गत लगभग २० हजार और डाकघर खोलनेका लक्ष्य है।

निबन्धका यह अंश वार्ताके रूपमें परिवर्तित होनेपर इस प्रकार था—

'आपने कभी सोचा है हमारा शरीर किस प्रकार सुचारु रूपसे काम करता है? यह हमारी शिराओं, धमनियों और स्नायुओंका प्रभाव है। इन्हींके जरिये एक जगहका खून दूसरी जगह पहुँचता है एक स्थानकी वेदना दूसरे स्थानपर पहुँचती है। इन्हींकी प्रेरणासे हम जीवित हैं, और सुचारु रूपसे काम कर रहे हैं। कोई राष्ट्र भी सुचारु रूपसे काम करे, इसके लिए जरूरी है कि उसके शरीरमें भी शिराएँ हों धमनियाँ हों स्नायु हों। आपका समाचार आपसे तीन सौ मील दूर रहनेवाले आपके मित्रोंके पास पहुँच सके आपके खानेके लिए पंजाबका गेहूँ आपके पास आ सके शासन चलानेके लिए दिल्लीका आदेश पटना पटनाका आदेश आरा गया दरभंगा आदि शहरोंमें पहुँच सके खतरेकी घड़ीमें देशकी सेना एक छोरसे दूसरे छोरपर जा सके आपके मनोरंजनके लिए बननेवाली फिल्में बम्बईसे आपके नगरमें आ सकें—इस सबके लिए साधन चाहिए, संचार और परिवहनके साधन—रेल तार डाक सड़क हवाई जहाज वगैरह। ये ही राष्ट्रके शरीरकी शिराएँ, धमनियाँ और स्नायु हैं। राष्ट्रका जीवन और स्वास्थ्य इन्हींपर निर्भर करता है। आजादी मिलनेके बाद हमारी

राष्ट्रीय सरकारने इसके महत्त्वको समझा है और इसके विकासके लिए लगातार कोशिश करती रही है। पहली पंचवर्षीय योजनामें जिन तीन प्रमुख क्षेत्रोंके विकासपर विशेष जोर दिया गया उनमें कृषि सिंचाई और शक्तिके साथ-साथ संचार और परिवहनका भी स्थान था। इनके विकास-पर लगभग पाँच सौ इकतीस दशमलव चार, छः करोड़ रुपये खर्च किये गये। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि देशके हर आदमीके लिए लगभग पन्द्रह रुपये खर्च किये गये। इसीसे पता चल सकता है कि संचार और परिवहनको कितना महत्त्वपूर्ण समझा गया।

अब हम इनके विकासपर अलग-अलग ध्यान दें। सबसे पहले डाक-घरोंके विकासको देखें। भारत गाँवोंका देश है, गाँव-गाँवमें शिक्षा और ज्ञानका प्रकाश पहुँच सके इसके लिए गाँवोंमें डाकघरोंके विकासको जरूरी समझा गया। डाकखाने खोलनेके लिए काफी उदार नीति अपनायी गयी। पहली पंचवर्षीय योजनामें यह लक्ष्य रखा गया कि हर ऐसे गाँवमें जिसकी आबादी दो हजार या उससे अधिक हो एक डाकघर खुले और ऐसा हुआ भी। दूसरी पंचवर्षीय योजनामें गाँवोंको और सुविधा देनेके लिए, यह तय किया गया कि दो मीलके घेरेमें रहनेवाले ऐसे दो-तीन गाँवोंको मिला कर भी जिनकी आबादी दो हजार या उससे अधिक हो एक डाकखाना खुले हाँ निकटके दूसरे डाकखानेसे उसकी दूरी कम-से-कम तीन मील जरूर हो। इस योजनाके अनुसार काम हो रहा है। पहली योजनाके पहले डाकघरोंकी संख्या केवल छत्तीस हजार थी योजनाके खत्म होते-होते यह पचपन हजार हो गयी यानी पाँच वर्षोंमें उन्नीस हजार डाकघर खुले यानी बरसमें हर रोज बारहसे भी अधिक डाकघर खोले गये।

ऊपर एक ही सामग्री दो रूपोंमें प्रस्तुत की गयी है और पढ़ने देखनेसे स्पष्ट ज्ञात हो सकता है कि दोनोंमें कितना अन्तर है। एक मुद्रणके दृश्य माध्यमके लिए है, दूसरा रेडियोके श्रव्य माध्यमके लिए। एक निबन्ध है दूसरा, वार्ता। रेडियोसे वार्ता ही प्रसारित होनी चाहिए, निबन्ध नहीं।

वार्ताको हम 'बातचीत' भी कहते हैं। अंग्रेजीमें इसका पर्याय 'रेडियो-टॉक' (Radio Talk) है।

निबन्ध और रेडियो-वार्ताका अन्तर स्पष्ट करनेके बाद यह दुहरानेकी आवश्यकता नहीं रह जाती कि रेडियो-वार्ता साहित्यका एक बिलकुल नया रूप है। यद्यपि इसका रूप लिखित होता है पर यह दृश्य और पाठ्य नहीं केवल श्रव्य है। अन्य लेखकोंकी भाँति रेडियो-वार्ताकार भी लिखता है, लेकिन यह ध्यानमें रखकर लिखता है कि उसकी रचना पाठकों और दर्शकोंके पास नहीं, श्रोताओंके पास पहुँचनेवाली है, अतः उसे अपने श्रव्य रूपमें प्रभावशाली होना चाहिए। रेडियोके श्रव्य माध्यमकी सीमाओं और शक्तियोंसे परिचित होकर ही कोई व्यक्ति रेडियो-वार्ता-लेखन एवं प्रसारण में सफल हो सकता है।

राष्ट्रीय सरकारने इसके महत्वको समझा है और इसके विकासके लिए लगातार कोशिश करती रही है। पहली पंचवर्षीय योजनामें जिन तीन प्रमुख क्षेत्रोंके विकासपर विशेष जोर दिया गया उनमें कृषि सिंचाई और शक्तिके साथ-साथ संचार और परिवहनका भी स्थान था। इनके विकास-पर लगभग पाँच सौ इकतीस दशमलव चार, करोड़ रुपये व्यय किये गये। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि देशके हर आदमीके लिए लगभग पन्द्रह रुपये खर्च किये गये। इसीसे पता चल सकता है कि संचार और परिवहनको कितना महत्वपूर्ण समझा गया।

अब हम इनके विकासपर अलग-अलग ध्यान दें। सबसे पहले डाक-घरोंके विकासको देखें। भारत गाँवोंका देश है। गाँव-गाँवमें शिक्षा और ज्ञानका प्रकाश पहुँच सके इसके लिए गाँवोंमें डाकघरोंके विकासको जरूरी समझा गया। डाकखाने खोलनेके लिए काफी उदार नीति अपनायी गयी। पहली पंचवर्षीय योजनामें यह लक्ष्य रखा गया कि हर ऐसे गाँवमें जिसकी आबादी दो हजार या उससे अधिक हो एक डाकघर खुले और ऐसा हुआ भी। दूसरी पंचवर्षीय योजनामें गाँवोंको और सुविधा देनेके लिए, यह तय किया गया कि दो मीलके घेरेमें रहनेवाले ऐसे दो-तीन गाँवोंको मिला कर भी जिनकी आबादी दो हजार या उससे अधिक हो, एक डाकखाना खुले हो निकटके दूसरे डाकखानेसे उसकी दूरी कम-से-कम तीन मील जरूर हो। इस योजनाके अनुसार काम हो रहा है। पहली योजनाके पूर्वमें डाकघरोंकी संख्या केवल छत्तीस हजार थी, योजनाके खत्म होते-होते यह पचपन हजार हो गयी यानी पाँच वर्षोंमें छब्बीस हजार डाकघर खुले यानी देशमें हर रोज बारहसे भी अधिक डाकघर खोले गये।

ऊपर एक ही सामग्री दो रूपोंमें प्रस्तुत की गयी है, और उन्हें देखनेसे स्पष्ट ज्ञात हो सकता है कि दोनोंमें कितना अन्तर है। एक मुद्रणके दृश्य माध्यमके लिए है, दूसरा रेडियोके श्रव्य माध्यमके लिए। एक निबन्ध है दूसरा वार्ता। रेडियोसे वार्ता ही प्रसारित होनी चाहिए, निबन्ध नहीं।

वार्ताको हम 'बातचीत' भी कहते हैं। अंग्रेजोमें इसका पर्याय 'रेडियो-टॉक' (Radio Talk) है।

निबन्ध और रेडियो-वार्ताका अन्तर स्पष्ट करनेके बाद यह कहनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती कि रेडियो-वार्ता साहित्यका एक बिल्कुल नया रूप है। यद्यपि इसका रूप लिखित होता है पर यह दृश्य और पाठ्य नहीं केवल श्रव्य है। अन्य लेखकोंकी भाँति रेडियो-वार्ताकार भी लिखता है लेकिन यह ध्यानमें रखकर लिखता है कि उसकी रचना पाठकों और दर्शकोंके पास नहीं श्रोताओंके पास पहुँचनेवाली है, अतः उसे श्रव्य रूपमें प्रभावशाली होना चाहिए। रेडियोके श्रव्य माध्यमकी सीमाओं और शक्तियोंसे परिचित होकर ही कोई व्यक्ति रेडियो-वार्ता-लेखन एवं प्रसारण में सफल हो सकता है।

रेडियो-वार्ताकी सीमायें

रेडियो-शिल्पके अनुभवी विद्वान् कहते हैं कि रेडियो-कार्यक्रमोंका श्रोता अन्धा होता है, वह अपनी आँखोंसे काम नहीं ले सकता। लेकिन प्रसारण के सम्बन्धमें गम्भीरतासे विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि रेडियो-कार्यक्रमोंका प्रसारणकर्ता भी अन्धा होता है, वह भी अपनी आँखोंसे काम नहीं ले सकता। वह अपनी आँखोंसे अपना आलेख पढ़ भर सकता है उससे अधिक कुछ नहीं कर सकता। प्रसिद्ध चिन्तक एमर्सनने कहा है कि 'आँखें सभी भाषाएँ बोलती हैं।' अमरीकी लेखक टकरमैन कहते हैं—'आँखें ऐसी वक्तृत्व-शक्ति और उत्साहके साथ बोलती हैं कि शब्दोंको भी मात कर देती हैं।' इन शक्तियोंकी सत्यताको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। आँखोंमें अद्भुत अभिव्यंजना-शक्ति होती है। आँखोंसे वचनका काम लेनेकी चर्चा केवल फिल्मी बातचीत नहीं है वह हमारे व्यावहारिक जीवनका सत्य है। अपने दैनिक व्यवहारमें हम केवल शब्दोंसे ही नहीं बोलते दृष्टिसे भी बोलते हैं। किन्तु रेडियो-वार्ताकार अपनी इन आँखोंका उपयोग नहीं कर सकता यदि वह करे भी तो उसके श्रोताओंके लिए उनका कोई अर्थ नहीं है। उसका श्रोता उसकी आँखोंकी भाषा नहीं पढ़ सकता वह उससे दूर रहता है उससे बिल्कुल अदृश्य।

आँखोंके सम्बन्धमें कही गयी बात मुखाकृति पर भी लागू है। मुखाकृतिसे भी विचारों और भावनाओंकी अभिव्यक्ति होती है। शेक्सपियर

ने लिखा है—'तुम्हारा मुख एक पुस्तक है, जिसमें लोग विचित्र बातें पढ़ सकते हैं।' आँखों और मुखाकृतिसे वक्ताके शब्दोंकी अभिव्यंजना-शक्ति बढ़ती है। यही बात अन्य भाव-भंगिमाओं एवं इंगितोंके सम्बन्धमें कही जा सकती है। हाथ और उँगलियोंके इशारोंसे भी हम भावाभिव्यक्ति करते हैं कभी-कभी तो यह भावाभिव्यक्ति इतनी सशक्त होती है कि शब्द उनके समक्ष अत्यन्त दुर्बल ज्ञात होते हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर द्वारा दिये गये उदाहरणोंका सहारा लेकर कहा जा सकता है—'दरवाजेकी तरफ इशारा करनेकी अपेक्षा यह कहना कि 'कमरा छोड़ दो, कम अभिव्यंजक है। मत बोलो कहनेकी तुलनामें होठोंपर उँगली रख देना अधिक शक्ति शाली है। 'यहाँ आओ' की अपेक्षा हाथका इंगित अधिक अच्छा है। आश्चर्यके भावको कोई भी भाषा इतनी स्पष्टताके साथ अभिव्यक्त नहीं कर सकती जितनी स्पष्टतासे आँखोंका खोलना और भौंहोंका उठाना कर सकता है।' रेडियो-वार्ताकार अभिव्यक्तिके इन सशक्त साधनोंका उपयोग नहीं कर सकता। यह उसकी बहुत बड़ी सीमा है। उसे केवल अपने शब्दों और स्वरोंसे काम लेना है और शब्दोंके द्वारा उस प्रभावोत्पादकता के अभावकी पूर्ति करनी है जो वक्ताको लोगोंके सम्मुख उपस्थित होकर भाषण देते समय उपलब्ध रहती है।

प्रत्यक्ष भाषणकी तुलनामें रेडियो-वार्ताकी एक और सीमा स्पष्ट ही दिखायी पड़ती है। वार्ताकार रेडियोके स्टूडियोमें माइक्रोफोनके सामने अकेला बैठा हुआ अपना आलेख पढ़ता है, उसके श्रोता उससे दूर अपने अपने घरोंमें उसकी वार्ता सुनते हैं। वार्ताकार अपने श्रोताओंकी प्रतिक्रिया से वंचित रह जाता है, वह समझ नहीं पाता कि उसकी वार्ताका प्रभाव श्रोताओंपर कैसा पड़ रहा है। 'गुड लिसनिंग' पुस्तकके लेखक एल्सन एण्ड डारोथिया एलनका कथन है कि 'माइक्रोफोनपर बोलने और अन्यत्र बोलनेमें व्यावहारिक अन्तर उन दोनोंका है, जिनको सम्बोधित किया जाता है। सचमुच श्रोताओंकी प्रतिक्रियाका प्रभाव वक्ता और उसकी भाषण

कलापर अवश्य ही पड़ता है। बड़ी-बड़ी सभाओंमें भाषण देनेवाले वक्ताओं-को इसका अनुभव सदा होता रहता है, और वे अपने सम्मुख बैठे श्रोताओं-की प्रतिक्रियाओंके अनुरूप अपनी कलामें परिवर्तन करनेका प्रयत्न करते रहते हैं। आलोचक डेंटर मैथ्यूजने नाटकोंके सम्बन्धमें जो कहा है कि 'रंगमंच समूहका कला है तथा नाटककारकी कृति जन दर्शकोंसे भी प्रभावित होती रहती है, जिनके लिए नाटक प्रस्तुत किया जाता है' वह प्रत्यक्ष भाषणोंके लिए भी अक्षरशः सत्य है। रेडियोपर बोलनेवाला व्यक्ति वक्तृत्व-कलाकी इस विशेषताका उपयोग नहीं कर सकता। वह अन्धकारमें अपने शब्दोंके तीर चलाता जाता है और समझ नहीं पाता कि वे कहीं लगते भी हैं या नहीं। रेडियो-वार्त्ताकारको इस सीमाका भी ध्यान करना होता है।

यहीं एक बात यह कह दी जाय कि रेडियो-वार्त्ता प्रत्यक्ष भाषणसे बिलकुल भिन्न है। यह समूहका कार्य नहीं है, व्यक्तियोंका कार्य है—अधिकसे-अधिक दो-दो चार-चार व्यक्तियोंके छोटी गोष्ठियोंका कार्य है। इन दोनोंमें जो अन्य अन्तर हैं, उनकी चर्चा हम यथास्थान बादमें करेंगे लेकिन अभी जो कहा गया है उसके आधारपर यह निःसंकोच स्वीकार किया जा सकता है कि रेडियो-वार्त्ताको 'रेडियो-भाषण' कहना उचित नहीं है। बहुत लोग रेडियोपर भाषण देनेकी बात किया करते हैं रेडियो-शिल्पपर लिखी एक हिन्दी पुस्तकमें भी इसे 'रेडियो-भाषण' कहा गया है। इस प्रकारका भ्रमोत्पादक नामकरण रेडियो-वार्त्ताके स्वरूपको समझनेमें बाधक होगा। जैसा पहले कहा जा चुका है, अंग्रेजीमें भी इसे 'रेडियो-टॉक' [Radio Talk] ही कहते हैं 'रेडियो-स्पीच' [Radio Speech] या अन्य कुछ नहीं।

अब फिर हम अपने मूल विषयपर आयें। एकान्त भाषण तथा श्रोता की प्रतिक्रियाके अभावमें यह आशंका रहती है कि वार्त्ताकार कहीं यंत्रवत् न हो जाय दो-चार मित्रोंकी गोष्ठीमें बातें करते समय उसमें जो स्वाभा-

स्ता और सप्राणता रहती है, वह कहीं लुप्त न हो जाय। अट्ठारहवीं शताब्दीके प्रसिद्ध अंग्रेज वक्ता चेस्टरफील्डने कहा है—'तुम जिस व्यक्तिसे बातें कर रहे हो उसकी सच्ची भावनाओंको जानना चाहते हो तो उसके चेहरेको देखो वह अपने शब्दोंको सरलतासे नियंत्रित कर सकता है, मुखपर अंकित भावनाओंको नहीं। छोटी गोष्ठीमें बातें करते समय किसी वक्ताकी वाणीमें जो सजीवता रहती है उसका यही कारण है, वह प्रतिक्षण अपने मित्रोंकी मुखाकृतिसे प्रभावित होता रहता है। रेडियो-वार्ताकार इस सजीवताको किस प्रकार बनाये रख सके यह उसके लिए एक समस्या है।

अब हम मुद्रित निबन्धकी तुलनामें रेडियो-वार्ताकी कुछ सीमाओंपर विचार करेंगे। कवि बायरनने कहा था—'कोई भी हाथ मेरे लिए अब घड़ीसे वह समय नहीं बचा सकता जो गुजर गया। रेडियो-वार्ताका श्रोता भी कोई वार्ता सुनकर नहीं कह सकता है। रेडियो-वार्ता भी अन्य रेडियो-कार्यक्रमोंकी तरह ही गुजरे हुए समयकी भाँति वापस नहीं आती' वह घड़ीके एक-एक सेकेंडके साथ आगे बढ़ती जाती है, पीछे नहीं लौटती। फलतः यदि कुछ पंक्तियाँ श्रोताकी समझमें नहीं आतीं तो वह उन्हें दुबारा नहीं सुन सकता। इसके विपरीत यदि उसे मुद्रित निबन्धके कुछ वाक्योंको समझनेमें कठिनाई हो सकती है तो वह उन्हें एक ही बार नहीं सौ बार पढ़नेको स्वतंत्र है। वह चाहे, तो पहले पढ़े हुए पृष्ठोंको फिरसे उलटकर देख सकता है। रेडियो वार्ताका श्रोता इस दृष्टिसे विवश है। उदाहरणके लिए, यदि वह रेडियोपर ये पंक्तियाँ सुनता है—

मानव-जीवनमें दुख-वेदना और कष्टका प्रश्न उससे पलायन उसके भोग या उसमें सार्थकता खोजनेका प्रयास व्यक्तिके आत्म-साफल्य और उसकी सामाजिक उपयोगिताका प्रश्न नैतिक मूल्योंके एक नये परिमाप खोजनेकी आवश्यकता जीवन-प्रक्रिया में आत्म-निषेध या आत्मोपलब्धिके बीचमें श्रद्धाकी एक स्थायी भूमि खोज पानेका प्रयास कुछ लोगोंकी अत्यन्त अप्रिय शब्दावलीका प्रयोग करें तो तेजीसे घूमते हुए चाककी एक स्थिर धुरी

खोजनेकी प्यास—ये सभी प्रश्न बड़े ही सांकेतिक ढंगसे जैनेन्द्रने 'सुनीता'में उठाये हैं। [सारण, २२ अक्तूबर १९५७]

और, इनकी शब्दावलीको पूर्णतः समझ नहीं पाता अथवा वाक्यकी समाप्तिके बाद फिरसे यह जानना चाहता है कि 'सुनीता' में कौन-कौन-से प्रश्न उठाये गये हैं तो उसकी इच्छा पूर्ण नहीं हो सकती। ये पंक्तियाँ उसे फिरसे नहीं सुनायी पड़ेंगी। श्रोताकी यह विवशता भी रेडियो-वार्ताकारकी एक बहुत बड़ी सीमा है।

श्रोता किसी वार्ताको दुबारा नहीं सुन सकता, यह तथ्य रेडियो-वार्ता तथा मुद्रित निबन्धके एक और अन्तरकी ओर संकेत करता है। मुद्रित निबन्ध एक पूर्ण रचना होता है जो अपने समग्र रूपमें पाठकको उपलब्ध रहता है। पर रेडियोके श्रोताको कोई कृति पूर्णतः संगठित एवं सम्पूर्ण रूपमें स्वतः नहीं उपलब्ध होती उसे इसके लिए स्वयं परिश्रम करना पड़ता है। उसे सुने हुए एक-एक वाक्यको जोड़कर पूर्ण संगठित कृति निर्मित करनी पड़ती है। वह एक-एक वाक्य सुनता हुआ क्रमशः आगे बढ़ता जाता है। वह वार्ताको मुद्रित निबन्धकी भाँति एक बार ही समग्र रूपमें नहीं देख सकता जिससे कठिन अंशोंको फिरसे दुहरा कर समझ सके। रेडियो वार्ताकी इस दुर्बलताको वार्ताकार कैसे दूर करे यह क्या करे कि वार्ताका सामूहिक प्रभाव श्रोतापर मुद्रित रचनाओंसे किसी प्रकार कम न पड़े यह उसके लिए एक कठिन प्रश्न है।

समग्र प्रभावकी जो बात अभी कही गयी उसका सम्बन्ध श्रोताकी स्मरण-शक्तिसे भी है। श्रोता किसी वार्तामें आये सभी शब्दोंको स्मरण नहीं रख सकता। साहित्यका लिखित रूप हमारी स्मरण-शक्तिका सहायक होता है पर उसके श्रव्य रूपमें इस विशेषताका अभाव रहता है। रेडियो-वार्ताके सम्बन्धमें आलोचक रोजर मेनविलका विचार है कि 'प्रसारित वार्ता मूल रूपमें श्रोताके विचार-प्रवाहमें एक-एक वाक्य करके रहती है, और उसके बाद विस्मृत होती हुई स्मृतिकी टेढ़ी-मेढ़ी राहोंमें प्रवेश करती है।

अथवा वार्ताकी समाप्तिपर सामान्य श्रोताके लिए वार्ताके प्रारम्भ एवं विकासके विषयमें निश्चित रूपसे कुछ कह सकना कठिन होता है। रेडियो-श्रोताकी यह ऐसी मनोवैज्ञानिक अक्षमता है, जिसपर विचार करना रेडियो वार्ताकारका कर्तव्य हो जाता है।

रेडियो-कार्यक्रम जिस वातावरणमें सुने जाते हैं वह भी वार्ताकारके लिए विचारणीय विषय है। हम अपने व्यावहारिक जीवनमें देखते हैं कि रेडियो-श्रवणका वातावरण शायद ही कभी और किसीके यहाँ बिल्कुल शान्त रहता है। ऐसे कम ही लोग मिलेंगे जो कमरेके दरवाजे बन्द कर शान्तिके साथ कार्यक्रम सुनते हैं। होता अधिकतर यह है कि लोग कार्यक्रम भी सुनते रहते हैं, आपसमें कभी-कभी बातें भी करते जाते हैं, दूसरी तरफ बच्चोंका शोरगुल भी होता रहता है बीच-बीचमें टेलीफोनकी घण्टी भी बजती रहती है कमरेमें इधर-उधरकी दूसरी आवाजें भी आती रहती हैं। इसके विपरीत यदि हमें मुद्रित साहित्य पढ़ना होता है, तो एकान्तमें शान्ति-पूर्वक पढ़नेका प्रयत्न करते हैं। पढ़नेका काम लोगोंकी भीड़ और तरह तरहकी हलचलोंमें नहीं होता। रेडियो-वार्ताकार रेडियो-श्रवणके इस बाधक वातावरणका किस प्रकार सामना करे, यह भी एक समस्या है।

रेडियो-वार्ताकारके सम्मुख इतनी सारी कठिनाइयाँ हैं उसके पास केवल वाणी है अभिव्यक्तिके दूसरे दृश्य साधन नहीं हैं, श्रोताके पास केवल श्रवण है दृष्टि नहीं है और वे श्रवण भी प्रसारित रचनाओंको केवल एक ही बार सुन सकते हैं, श्रोताकी स्मरण-शक्ति भी वार्ताको सम्पूर्णतः स्मरण रखनेमें असमर्थ है, और श्रोता जिस वातावरणमें कार्यक्रम सुनता है वह भी प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता। वार्ताकारको इन सीमाओंको खण्डित करना है। उसकी सहायता करनेवाले साधन बड़े सीमित हैं भाषाकी शक्ति मनोविज्ञानसे उपलब्ध ज्ञान लेखन-कौशल ध्वनि और प्रसारण-शैली। इन सबका वह किस प्रकार अधिकाधिक सफलताके साथ उपयोग कर सकता है इसका विवेचन हम अगले अध्यायोंमें करेंगे।

जाते ही जाते हैं। हमलोग भी आवश्यकतानुसार इन संकेतोंसे काम लेते हैं। किसी अन्य भाषा-भाषीसे मिलनेपर प्रायः अपूर्ण उच्चारण अथवा अपूर्ण शब्द-भाण्डारकी पूर्ति करनेके लिए हमें संकेतोंका प्रयोग करना पड़ता है। बहरे और गूँगोंसे संलाप करनेमें उनकी संकेतमय भाषाका ज्ञान आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार मुख-विकृति भी भाषाका दूसरा अंग मानी जा सकती है। हर्ष, घृणा क्रोध अथवा आदिके भावोंके प्रकाशनमें मुख-विकृति-का बड़ा सहयोग रहता है। एक क्रोधपूर्ण वाक्यके साथ ही वक्ताकी आँखों-में भी क्रोध देख पड़ना साधारण बात है। बातचीतसे मुखकी विकृति अथवा भाव-भंगीका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होता है कि अन्धकारमें भी हम किसीके शब्दोंको सुनकर उसके मुखकी भाव-भंगीकी कल्पना कर लेते हैं। ऐसी अवस्थाओंमें प्रायः कहनेका ढंग अर्थात् आवाज [tone of voice] हमारी सहायता करती है। बिना देखे भी हम दूसरेकी 'कड़ी आवाज' 'भरी आवाज' अथवा 'भर्राये' और 'टूटे' स्वरसे उसके वाक्योंका भिन्न भिन्न अर्थ लगाया करते हैं। इसीसे लहजा आवाज [tone] अथवा स्वर-विकार भी भाषाका एक अंग माना जाता है। इसे वाक्य-स्वर भी कह सकते हैं। इसी प्रकार स्वर [अर्थात् गीतात्मक स्वरापात], बल-प्रयोग और उच्चारणका वेग [अर्थात् प्रवाह] भी भाषाके विशेष अंग होते हैं।—कहनेकी आवश्यकता नहीं कि लेखन-कला और मुद्रण-कलाके आविष्कारने भाषाको उसके इन सभी अंगोंसे विच्छिन्न कर दिया है, जिसके फलस्वरूप भाषा अपनेको असहाय अनुभव करने लगी है। जो भाषा जितनी ही पुरानी है और परम्परागत प्रयोगोंके कारण जिसकी शब्द-राशि जितनी ही घिस गयी है, उसे उतना ही अधिक अपनी शक्ति-क्षीणताका अनुभव होता है, और वह उसे दूर करनेके लिए अपनी शैलीका संस्कार करती दिखायी पड़ती है। अंग्रेजीके सम्बन्धमें कवि एवं नाटककार लुई मैकनीस का विचार है कि 'अंग्रेजी जिसका साहित्य इतना पुराना है, और जिसकी समसामयिक शैली प्रयोगोंसे इतनी अशक्त हो गयी है, जो आज भावात्मक

बेतारके लिए उपचार-व्यवस्था—सीधे-सादे वक्तव्यों और घिसे-पिटे चित्रोंको टेढ़े ढंगसे कहनेकी शैली—पर निर्भर करना पड़ रहा है। उनके अनुसार मुद्रित पृष्ठपर ऐसा करनेके लिए सतत कौशल-प्रयासकी अपेक्षा है पर उच्चरित शब्दोंके द्वारा जिसे सहज ही किया जा सकता है।

इसी प्रसंगमें 'अज्ञेय' की ये पंक्तियाँ भी उद्धृत की जा सकती हैं—'भाषाको अपर्याप्त पाकर विराम-संकेतोंसे अंकों और सीधी-तिरछी लकीरोंसे, छोटे-बड़े टाइपोंसे, सीधे या उलटे अक्षरोंसे, लोगों और स्थानोंके नामोंसे, अधूरे वाक्योंसे—सभी प्रकारके इतर साधनोंसे कवि उद्योग करने लगा कि अपनी उलझी हुई संवेदनाकी सृष्टिको पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचा सके। इसके उदाहरण-स्वरूप शैली-विरोधी अत्याधुनिक कविताके अनेकानेक अंश उद्धृत किये जा सकते हैं। हिन्दीकी एक कविताका अंश प्रस्तुत है—

मैं—
—मैं
[अर्थात् हम—मैं]
इन्हें अपने चरित्रके पर्वमें आरम्भ किया
जाने या बहुत कुछ संकेतोंमें समझाने ही
इसका संचारण
मनका
बाजा
कर्मोंका
सम्भावित हुआ।
और
फिर उसी तरह,
घर,
सहज,
अभिव्यक्तियों,

इंगितों,
आचरणों,
कर्मों,
के माध्यम
इसके पुरुषको
समग्रतः अवतरित किया।
[अरस्तूके दर्शनका प्रयोग
मेरा—[+रा]
अर्थात्
हमारा—[+रा]
समय नहीं था]
[उधारकी सीख संग्रहसे]

गद्यमें भी ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनमें लेखन-शैली-की नवीनताके द्वारा चमत्कार उत्पन्न करनेका प्रयत्न किया जाता है। 'अपरम्परा' [त्रैमासिक साहित्य संकलन] में प्रकाशित 'तीसरी कसम अर्थात् मारे गये गुलफाम। शीर्षक कहानीसे कुछ पंक्तियाँ उद्धृत हैं—

'दारोगा साहबकी डेढ़ हाथ लम्बी चोरबत्तीकी रोशनी कितनी तेज होती है हिरामन जानता है। एक घण्टेतक आदमी अन्धा हो जाता है, एक छटक भी पड़ जाय आँखोंपर, तो! रोशनीके साथ कड़कती हुई आवाज—ऐ—य! गाड़ी रोको!! साले गोली मार देंगे!—

बीसों गाड़ी एक साथ कचकचाकर रुक गयीं। हिरामनने पहले ही कहा था—यह बीस बिषावेगा। दारोगा साहब उसकी गाड़ीमें दुबके हुए मुनीमजीपर रोशनी डालकर पिशाची हँसी हँसे—हा-हा-हा। मुँनीमजी ई-ई-ई। ही-ही-ही। 'ऐ-य साला गाड़ीवान मुँह क्या देखता है! रे-ए ए? कम्बल हटाओ इस बोरेके मुँहपरसे! हाथकी छोटी लाठीसे मुनीमजीके पेटमें खोंचा मारते हुए कहा था—इस बोरेको! स-स्साला!!

इन उदाहरणोंसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि लेखक किस प्रकार अपनी शैलीकी शक्तिसे लिखित भाषाकी असमता मिटानेके लिए प्रयत्नशील है। यह मुद्रण-यन्त्र और लेखन-कलाका प्रभाव है। इन्होंने लेखकों और पाठकों-को दूसरे प्रकारसे भी प्रभावित किया है। यहाँ हम कुछ और प्रभावोंपर विचार करेंगे।

शब्दोंमें चित्र-निर्माणकी शक्ति होती है। जब कोई शब्द उच्चरित किया जाता है, तब श्रोताके मनमें उच्चरित ध्वनियोंकी प्रतिक्रिया होती है और मानस-चित्र उभर आते हैं। शब्दोंके लिखित रूपमें यह शक्ति नहीं होती। फलतः मुद्रण-यन्त्रने लेखकों और पाठकोंका ध्यान भाषित शब्दोंकी प्रतिक्रियासे हटा दिया है। सोमनाथ मिश्रके शब्दोंमें लिखित शब्दोंने लेखकोंमें भाषाको वाक्य और अनुच्छेदके रूपमें सोचनेकी आदतको जन्म दिया। इसने उच्चरित शब्दोंकी प्रतिक्रियाओं चित्रों और अर्थोंपरसे लेखक और पाठकका ध्यान हटा दिया। दूसरी बात यह भी ध्यान देनेकी है कि शब्दमें केवल अर्थ ही नहीं होता ध्वनि भी होती है। ध्वनियोंसे अकसर भी आनन्द होता है। कवितामें तो इस नाद-सौन्दर्यका बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है, लेकिन उसके लिखित रूपके मौन पाठ द्वारा इस आनन्दकी उप-लब्धि नहीं हो सकती। इसका प्रभाव श्रोताओंकी काव्यानन्द-ग्रहणकी शक्ति पर पड़ता है। जैसा कि प्रा० बुचरने कहा है 'मुद्रण-कलाने हमारी साहि-त्यिक दृष्टि मन्द कर दी है। लुई मैक्नीसने भी सत्य ही कहा है कि हम ऐसे युगमें हैं, जिसमें हमारे कुछ कवि भी इस प्रकार लिखते हैं जैसे वे बहरे और गूँगे हैं। नाद-सौन्दर्यकी यह बात केवल काव्यके लिए ही सत्य नहीं है, गद्यकी कथात्मकतामें भी सौन्दर्य होता है जिसे सुनकर आनन्द प्राप्त किया जा सकता है।

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि मुद्रण-यन्त्र द्वारा अपहृत शब्दोंकी मौलिक शक्तियोंको रेडियो फिरसे वापस दे सकता है। रेडियोने भाषाको स्वर विकार, स्वर, बल और प्रवाह इन सभी अंगोंसे पुनः सम्पन्न कर दिया

है। इसमें वह शक्ति भी है कि हम भाषित शब्दोंसे श्रोताओंके मनमें अपेक्षित मानस-बिम्बोंका निर्माण कर सकें, अपेक्षित प्रतिक्रियाएँ जगा सकें, शब्दोंके सूखे हुए फूलमें फिर रंग और गन्ध ला सकें, अर्द्धजीवित शब्दोंको पूर्णतः प्राणवन्त बना सकें।

भाषित शब्दोंके पक्षमें कहे गये तथ्योंसे यह न समझा जाय कि लिखित और मुद्रित शब्दोंका कोई मूल्य ही नहीं है। इन दोनोंने हमारी सभ्यताके विकासमें बहुत बड़ा काम किया है, लेखन-कलाके आविष्कारने मानव मानवके बीचकी दूरी मिटायी थी, एक स्थानका व्यक्ति अपनेसे कोसों दूर रहनेवाले व्यक्तियोंसे विचार-विमर्श करनेमें समर्थ हो सका। इस प्रकार मुद्रण-यन्त्रके आविष्कारने देश-कालकी दूरी मिटाकर ज्ञानका प्रसार किया, कालिदास और शेक्सपियर-जैसे साहित्यकारोंकी कृतियाँ सबके लिए सुलभ हो गयीं। लेकिन इन सुविधाओंके बावजूद लेखन और मुद्रणने भाषित शब्दोंकी शक्ति छीनी इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। रेडियोकी विशेषता यह है कि इसने लेखन और मुद्रण-कलाओंकी तरह स्थानोंकी दूरी भी मिटायी है, साथ ही शब्दोंकी खोयी हुई शक्ति भी वापस दी है। अभिव्यक्तिका इतना विचित्र माध्यम मनुष्यको पहली बार मिला है, जिसमें प्रत्यक्ष भाषणकी सामूहिकता भी है और स्थानोंकी दूरी मिटानेकी लेखन कला-जैसी क्षमता भी है। आजका विचारक और साहित्यकार एक स्थान पर बैठा हुआ दूर-दूर रहनेवाले असंख्य लोगोंसे एक ही साथ बातें कर सकता है। सामूहिक प्रेषणीयताका इतना सशक्त साधन दूसरा नहीं है जिसके माध्यमसे एक वार्ताकार दूरस्थ व्यक्तियोंसे प्रत्यक्ष रूपसे अपनी बातें कह सके। वार्ताकारकी यह क्षमता भाषित शब्दोंकी शक्तिके बलपर निर्भर है। इस शक्तिका किस प्रकार उपयोग किया जाय यह हमारे अगले अध्यायोंका विवेच्य विषय होगा।

रेडियो-वार्ता और श्रोताकी मानसिक दृष्टि

रेडियो सुनता हूँ।
ईथरके वाष्पसे
स्वर और शब्दके
रंग-बिरंगे फूल चुनता हूँ।

सचमुच रेडियो सुनते समय श्रोता जब स्वरों और शब्दोंके रंग-बिरंगे फूल चुननेका अनुभव करने लगता है तभी रेडियो-कार्यक्रमोंकी सार्थकता सिद्ध होती है अन्यथा वे शून्यमें बिखरा दी गयी निरर्थक ध्वनियोंकी तरह हैं। शब्दोंके फूल श्रोताकी मानसिक आँखों द्वारा ही देखे जा सकते हैं, और उन्हींके द्वारा चुने भी जा सकते हैं। फलतः रेडियो-कार्यक्रमोंके प्रस्तुत-कर्ताओंका ध्यान श्रोताकी मानसिक दृष्टिपर अवश्य ही रहना चाहिए। रेडियो-लेखकोंको चाहे वह नाटककार हो कहानीकार हो, वार्ताकार हो सदा यह स्मरण रखना है कि वह अंधोंके लिए लिख रहा है, उसे प्रत्येक क्षण अपने शब्दोंकी चित्र-निर्माण-शक्तिका उपयोग करना है। रेडियो-वार्ताकारमें तो यह विशेषता निश्चित रूपसे होनी चाहिए। रेडियो-वार्ता-लेखनके सम्बन्धमें प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक प्रोफेसर सीरिल बर्ट कहते हैं—'अपनी वार्ता लिखते समय प्रसारण-कर्ताको अन्धे श्रोताओंकी मानसिक दृष्टिको ध्यानमें रखना चाहिए, जो कुछ भी भाव मात्र हो उसे छोड़ देना चाहिए, और प्रत्येक वाक्यको एक चित्र निर्मित करना चाहिए।'

बी॰ बी॰ सी॰ के पहले चीफ इन्जीनियर पी॰ पी॰ एकरस्ले अपनी पुस्तक 'दि पावर बिहाइन्ड दि माइक्रोफ़ोन' में बड़े साफ़ शब्दोंमें कहते हैं कि 'सबको उबानेवाले ऐसे पत्र-पाठ बहुत कम होने चाहिए [रेडियोपर] जो सरसर समाचार लिखे-जैसे मालूम हों और ऐसे कुशल वार्ताकारोंको अधिक संख्यामें आना चाहिए, जो घटनाओं और विचारोंके स्पष्ट शब्दचित्र निर्मित करना जानते हों। रेडियोके प्रसिद्ध प्रसारणकर्ता लियोनेल गैमलिन रेडियोपर प्रभावशाली ध्वनि-चित्र [Sound Picture] चाहते हैं और बतलाते हैं कि रेडियो द्वारा प्रस्तुत ध्वनि-चित्र चित्रशालाके चित्रोंकी तरह गतिहीन नहीं होते बल्कि बड़े गतिशील होते हैं श्रोताके सामने एक क्षण-के लिए आते हैं और फिर विदा हो जाते हैं श्रोता उन्हें दुबारा नहीं देख सकता अतः उन्हें बिलकुल स्पष्ट होना चाहिए। रेडियो-वार्ताके लिए चित्रात्मकता अनिवार्य है इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता।

प्रश्न यह है कि शब्दों द्वारा किस प्रकार चित्र-निर्माण किया जाय? चीनकी एक कहावतमें कहा गया है कि एक चित्र दस हजार शब्दोंके बराबर होता है। यह उक्ति बिलकुल सत्य है लेकिन दस हजार नहीं बल्कि कुछ इने-गिने शब्दोंसे ही चित्र कैसे बनें यह एक कठिन कार्य है। इसके लिए कल्पना-शक्तिकी अपेक्षा है। बिना कल्पनाका सहारा लिये शब्दोंकी शक्तिका अपेक्षित उपयोग नहीं हो सकता। लियोनेल गैमलिन तो कहते हैं कि बिना कलाकार हुए कोई भी इस कल्पनाका उपयोग नहीं कर सकता। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि रेडियो-वार्ताकारको भी कलाकार बनना पड़ेगा बनना क्या पड़ेगा, कलाकार तो वह है ही। वैसे ही यह कवियों कहानीकारों और नाटककारोंकी तरह अपनी वार्ता लिखनेके लिए कलम हाथमें उठाता है, और उसके बाद अभिनेताओंकी तरह माइक्रोफ़ोन के सामने स्वयं अपना अभिनय करनेके लिए [दूसरोंका नहीं] आता है, यह कलाकारके पदपर प्रतिष्ठित हो जाता है। यह सही है कि वह वैज्ञानिक है, डाक्टर है, वकील है, राजनीतिक या साहित्यिक विचारक है, अर्थशास्त्री

है अथवा किसी दूसरे विषयका विशेषज्ञ है, पर जहाँ वार्त्ता-लेखन और प्रसारणका प्रश्न आता है, वह कलाकार है इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उसके सामने समस्या तो यह है कि वह अपने कलाकारके गौरव की रक्षा किस प्रकार करे, किस प्रकार कल्पना और शब्दोंकी शक्तिसे काम ले और किस प्रकार अपने श्रोताओंकी मानसिक दृष्टिके सामने यथोचित सामग्री उपस्थित कर सके ?

शब्दोंकी शक्ति अपरिमित है यह पहले कहा जा चुका है। शब्दोंसे चित्र भी निर्मित हो सकता है, रूप-रंगकी झाँकी भी प्रस्तुत की जा सकती है ध्वनिकी व्यंजना भी हो सकती है। इसके पहले कि हम प्रसारित वार्त्ताओंसे इसके कुछ उदाहरण दें यह उचित लगता है कि प्राचीन काव्यके उदाहरणों से शब्दोंकी चित्रात्मक शक्तिका परिचय दिया जाय। प्राचीन काव्यमें यह दृश्य तत्त्व बहुत अधिक था मुद्रण-यन्त्रके आविष्कार तथा बौद्धिकताके विकासके साथ-साथ इसका ह्रास हो गया है। चित्रमयताके कुछ उदाहरण कालिदासकी कृतियोंसे उनके कुछ अंशोंके अनुवादके द्वारा दिये जा रहे हैं।

मालविकाग्निमित्र की मालविकाका यह रूप-चित्र है—'बड़ी-बड़ी आँखें कान्तिमान् शरद्के चन्द्रमा जैसा मुख कन्धोंपर थोड़ी झुकी हुई भुजाएँ, सघन स्तन मुट्ठी भरकी कटि पृथुल जाँघें और थोड़ी-थोड़ी मुड़ी हुई पैरोंकी उँगलियाँ।

'कुमारसम्भव' की पार्वतीके इस चित्रमें रंगोंको स्पष्ट देखा जा सकता है— हरिणके समान जिनकी आँखें हैं सिरसके फूलसे भी कोमल जिनकी भुजाएँ हैं जिनके लाल-लाल अधरोंपर मुसकानकी उज्ज्वलता ऐसी लगती है, जैसे लाल कोंपलमें कोई उजला फूल रखा हो या स्वच्छ मूँगेके बीचमें मोती जड़ा हुआ हो।

महर्षि कण्वके आश्रमका यह चित्र देखिए—'कहीं वृक्षोंके नीचे सुग्गोंके घोंसलोंसे गिरे हुए तिन्नीके दाने बिखरे पड़े हैं कहीं इधर-उधर

पड़े हुए चिकने पत्थर बतला रहे हैं कि इनपर हिंगोटके फल कूटे गये हैं कहीं निर्भीक खड़े हरिन इस विश्वासके साथ रथका शब्द सुन रहे हैं कि आश्रममें इन्हें कोई छेड़ेगा नहीं कहीं नदी-तालाबोंपर आने-जानेकी राहोंमें मुनियोंके वल्कलोंसे टपके हुए जलकी रेखाएँ बनी हुई हैं।

गतिके शब्द-चित्रके लिए वेगसे दौड़ते हुए रथका यह चित्र दर्शनीय है—'सचमुच इन अश्वोंने तो सूर्य और इन्द्रके अश्वोंको भी दौड़में पछाड़ दिया है क्योंकि जो वस्तु दूरसे पतली दिखायी देती थी वह जल्दी ही मोटी हो जाती है जो बीचसे कटी जान पड़ती थी वह झट ऐसी जान पड़ने लगती है मानो उसे किसीने जोड़ दिया हो और जो स्वभावतः टेढ़ी वस्तुएँ हैं वे आँखको सीधी-सी दिखायी देने लगती हैं। रथ इतने वेगसे दौड़ रहा है कि कोई वस्तु न दूर रह पाती है न समीप ही'—[आकाशमें तीव्र वेगसे दौड़ते रथका चित्र] यह रथ इतने वेगसे दौड़ रहा है कि इसकी रगड़से बने बादल पिस-पिसकर धूल बन गये हैं। इसके पहिये भी इतने वेगसे घूम रहे हैं कि लगता है मानो पहियोंके अरोंके बीचमें और भी बहुत-से अरे बनते चले जा रहे हैं। अश्वोंके सिरपर चौरियाँ इस तरह खड़ी हो गयी हैं कि लगता है ये चित्रमें खिंची हुई हों और वेगसे चलनेके कारण जो पवन उठता है उसकी झोंकसे झण्डीका कपड़ा अपने बाहरी छोरके और ध्वजाके डण्डेके बीचमें सीधा तन गया है तनिक भी हिलता-डुलता नहीं।

इस प्रकारके शब्द-चित्रोंका व्यवहार रेडियो-वार्ताको आकर्षक और प्रभावोत्पादक बना सकता है, इसमें सन्देह नहीं। प्राकृतिक दृश्यों स्थानों देशों व्यक्तियों यात्रा-विवरणों आदिसे सम्बन्धित वार्ताओंमें चित्रोंका व्यवहार किया जा सकता है। उदाहरणके लिए, 'यह राजस्थान है' शीर्षक वार्ताका यह अंश उद्धृत है

'यह राजस्थान है, मरुका देश। नाम लेते ही इतिहास आँखोंपर चढ़ जाता है। अफ्रीकाके रेगिस्तान सहाराका विस्तार, जितनी ही बीहड़ भूमि

सपने ही बीहड़ आदमी । आदमी कि फ़ौलाद पिघला तो पानी जमा तो बरफ ।

× × ×

छरहरा डील-डौल सुग्गेकी नाक ऊँचा माथा जिसपे विपदाकी कथा-गुथा बैठो, छटी मिरजई कसी पगड़ी । कमरसे लटकती तलवार, मुट्ठीमें कसा भाला । दोनों ओर सँवारी दाढ़ी चढ़ी मूँछें ताँबेका रंग ।—बाँका राजपूत कि देखे तो केहरी दुम दबा ले कि चले तो गजराज राह छोड़ दे।

छरहरी काया सुघर रूप साँचेमें ढले अंग । छातीपर कसी चोली कमरसे फैला घाँघरा । माथेपर प्रकाशपुंज बोरला सिरपर ओढ़नी मुखो घो घोघट खींच आये छेड़ो तो सिंहनी गरज उठे । शमा-सी पावन देह लिया राजपूतकी आनकी खुशबू—राजपूतनी ।

[आकाशवाणी प्रसारिका अप्रैल-जून १९५९]

ये चित्र अवश्य ही आकर्षक कहे जायेंगे । पर इसके विपरीत वार्ताओं-में चित्रोंके लिए अवकाश रहनेपर भी साधारणतः ये वार्ताकारों द्वारा नहीं प्रस्तुत किये जाते । उदाहरणार्थ बदरीनाथ शीर्षक वार्तामें वार्ताकार कहता है—

'यद्यपि वर्तमान मन्दिर तीर्थकी प्रसिद्धिके अनुरूप नहीं है और न भारतके अन्य मन्दिरोंकी भाँति इसमें भारतीय स्थापत्य और मूर्तिकलाका वास्तविक रूप प्रकट हुआ है, तो भी इसका प्रवेश द्वार बहुत भव्य है ।

[रेडियो-संग्रह अक्टूबर-दिसम्बर १९५१]

इस 'भव्य' शब्दके कह देने मात्रसे श्रोताके मनमें प्रवेश-द्वारका कैसा चित्र आयेगा ? ऐसा ही एक दूसरा उदाहरण लें । यह अंश 'वीरोंका देश कनाडा' वार्ताका है—

टुरॅंटोका अजायबघर हमारे अबतकके देखे हुए बड़े अजायबघरोंमें एक था और उसके कुछ संग्रह तो ऐसे थे जैसे हमने अबतक कहींके अजायब-घरमें न देखे थे । टुरॅंटोका यह रायल ओंटारियो म्यूजियम यूनिवर्सिटी

एवेन्यूपर बना हुआ है। इस एक अजायबघरमें वास्तवमें चार अजायबघर हैं। लन्दनको छोड़ यह अजायबघर ब्रिटिश राष्ट्रमण्डलमें सबसे बड़ा है और अपने संग्रहालयके लिए अत्यन्त विख्यात है। अजायबघरके चार भाग इस प्रकार हैं—पुरातत्त्व, खनिज शास्त्र, भूगर्भ शास्त्र और प्राणिशास्त्र। इस अजायबघरसे जीवनकी वृहत्ताका आभास मिलता है।

[प्रसारित: जुलाई सितम्बर १९५५]

उपर्युक्त अंशसे श्रोताके मनमें अजायबघरके सम्बन्धमें क्या धारणा बनेगी? इससे क्या वह समझ पाता है कि अजायबघर कितना बड़ा है उसमें कौन-कौन-सी ऐसी महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ हैं जो और कहीं नहीं हैं? वार्ताकारने सभी बड़ी धुँधली बातें कही हैं उसने शब्दोंकी चित्रात्मक शक्तिका उपयोग नहीं किया है। सीरिल बर्टका जो विचार पहले दिया जा चुका है कि जो भाव मात्र हो उसे छोड़ देना चाहिए और प्रत्येक वाक्यको एक चित्र निर्मित करना चाहिए, वह ऐसे ही प्रसंगोंके लिए। वार्ताओंमें कुछ भी धुँधला नहीं होना चाहिए। 'प्रोडक्शन एण्ड डाइरेक्शन ऑफ रेडियो प्रोग्राम्स' के लेखक जॉन एस० कारलील कहते हैं—'तथ्योंको निश्चित और प्रत्यक्ष रूपमें उपस्थित कीजिए। प्रसिद्ध लेखक एवं वक्ता डेल कार्नेगी भी यही बात कहते हैं कि दृष्टिके लिए प्रस्तुत सामग्रीको बिलकुल स्पष्ट और निश्चित रखिए।

शब्दों द्वारा निर्मित चित्रोंके सम्बन्धमें यह अवश्य याद रखना है कि शब्द किसी भी वस्तु या दृश्यका हूबहू चित्र नहीं अंकित कर सकते वे केवल चित्रोंकी व्यंजना कर सकते हैं। कुछ शब्दों या कुछ वाक्यों द्वारा ऐसे इंगित भर दिये जा सकते हैं जिनसे श्रोता अपने मानसमें स्वयं ही चित्र निर्मित कर ले। शब्द-संकेतोंकी विशेषता केवल इसी बातमें है कि वे श्रोताओंकी कल्पनाशक्तिको उद्बुद्ध कर दें जिससे वह मानस-चित्रोंका निर्माण कर सके। रेडियोको संकेतोंकी कला कहा जाता है। इसकी विशेषता इसकी व्यंजनामें ही है अभिधामें नहीं। साहित्यकी सबसे बड़ी शक्ति व्यंजना ही

मानी जाती है। इस दृष्टिसे रेडियो विचारों और भावोंके प्रेषणका सबसे सचित माध्यम है। इसीलिए टेलिविजनकी तुलनामें रेडियोको अनुभवी प्रसारणकर्त्ताओं द्वारा अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। टेलिविजनके पटपर साहित्यमें अंकित दृश्योंके हूबहू चित्रणका प्रयत्न रहता है। 'दि टाइम्स' पत्रके रेडियो-समीक्षकने एक बार लिखा था—'फिल्मी चित्रपटोंकी यथार्थतामें स्पेन्सरके काव्यकी चित्रमयताको हास्यास्पद बना दिया। घण्टीका उल्लेख है, इसलिए हमलोगोंको घण्टी बजानेवालोंको देखना ही चाहिए, रोशनीका उल्लेख है इसलिए रोशनीवालोंको सजना ही चाहिए।'—यह कल्पनाका निषेध है। कवि लुई मैक्नीस कहते हैं—कवि जब कोयलके विषयमें कहता है कि वही एक मात्र ऐसा पक्षी है जिसके स्वरमें इतनी सघनता है कि उसको भी प्रतिच्छाया होती है, तब हम किसी कोयलको *नहीं देखना चाहते। मैं समझता हूँ हमलोग कुछ भी नहीं देखना चाहते।* काव्यात्मक चित्रको अपना रंगमंच स्वयं अपने पास होना चाहिए। इन सभी बातोंसे यह निष्कर्ष सरलतासे निकाला जा सकता है कि शब्दोंके लिए चित्रोंकी व्यंजना कर देना ही पर्याप्त है।

श्रोताओंकी मानसिक वृत्तिकी तृप्तिके लिए चित्रात्मकताके अतिरिक्त भी अनेक साधन हैं। उनमें एक यह है कि अपने विचारको उदाहरणोंके द्वारा व्यक्त किया जाय। गम्भीरसे-गम्भीर विचार भी उदाहरणोंके द्वारा आकर्षक एवं सरस रूपमें उपस्थित किया जा सकता है। अगर लगातार कुछ देर तक विचार-ही-विचार उपस्थित किये जायँ तो श्रोताओंको समझनेमें भी कठिनाई होगी और उनका मन भी ऊब जायेगा। रेडियोके अदृश्य श्रोताओंके लिए तो यह बात विशेष रूपसे सही है। इसीलिए जान एस० फार्कहर रेडियो-लेखकोंसे कहते हैं कि उदाहरणोंके व्यवहारमें सावधान रहिए। जन-सामान्यसे सम्पर्क रखनेवाले विचारक एवं वक्ता उदाहरणोंके महत्त्वको अच्छी तरह जानते हैं। आचार्य विनोबाके 'गीता-प्रवचन'में देखा जा सकता है कि दृष्टान्तों द्वारा किस प्रकार गीताके गम्भीर दर्शनको भी

सहज बोधगम्य बना दिया गया है । उसीसे एक छोटा-सा अंश उद्धृत है ।

सहज कर्मको ही अकर्म कहते हैं ।—कर्मकी सहजताको समझनेके लिए हम अपने परिचयका एक उदाहरण लें । छोटा बच्चा पहले चलना सीखता है । उस समय उसे कितना कष्ट होता है । किन्तु हमें उसकी इ कोशिशसे आनन्द होता है । हम कहते हैं देखो बच्चा चलने लगा । पर पीछे यही चलना सहज हो जाता है । वह चलता भी रहता है और बात-चीत भी करता रहता है । चलनेकी ओर ध्यान भी नहीं रहता । यही बात खानेके सम्बन्धमें है । हम छोटे बच्चोंका अन्नप्राशन करते हैं, मानो खाना कोई बड़ा काम हो । परन्तु पीछे वही खाना एक सहज कर्म हो जाता है । मनुष्य जब तैरना सीखता है तो कितना कष्ट होता है । पहले दम भर जाता है पर पानीमें तो पकड़े जब दूसरी मेहनतसे थक जाता है तो लगता है कि चलो जरा तैर आवें तो थकान मिकल जाय । जब वह तैरना कहकर नहीं मालूम होता । शरीर यों ही सहज भावसे पानीपर तैरता है । भ्रमित होना मनका धर्म है । मन जब कर्मोमें व्यस्त रहता है, तो मन मालूम होता है परन्तु कर्म जब सहज होने लगते हैं तो फिर उनका बोझ नहीं मालूम होता । कर्म मानो अकर्म हो जाता है । कर्म आनन्दमय हो जाता है ।

एक उदाहरण एक प्रसारित वार्तासे दीजिए कि उदाहरणोंके व्यवहारसे वार्ता किस प्रकार रोचक हो जाती है । वार्ताका नाम है 'ऐन मौक़ेपर

'बुद्धि वह, चातुरी वह, प्रतिभा वह जो ऐन मौक़ेपर राह बताये, पथ सुझाये, काम बनाये । यों तो बुद्धि उस खास जानवरमें भी होती है, जो पीठपर भारी बोझ लिये आँखें मुंदाये कान लटकाये लकीर पकड़े धीमी चालसे जैसे-तैसे पहुँच ही जाता है ।

मैं मानता हूँ वैसी बुद्धि वैसी चातुरी वैसी प्रतिभा सबको नहीं मिलती । यह तो मानता हूँ एक लम्बी साधनाके बाद ही बुद्धिमें वैसा चमत्कार, चातुरीमें वैसा पैनापन और प्रतिभामें वैसे पंख लग पाते

हैं, जब आदमी एक छलाँगमें पहाड़को पार कर लेता है, एक प्रयोगमें समुद्र लाँघ लेता है, एक झपटमें मरुभूमिको पीछे छोड़ जाता है, जब कि दूसरे लोग साँस रोककर यह देखनेको उत्सुक होते हैं कि अब वह मरा-मरा या जला-भुना।

एक ताजा उदाहरण लीजिए। पिछली लड़ाई शुरू हुई। हिटलरने यूरोपमें तूफान मचा दिया। वह देशपर-देश विजय करता गया। ऐसा लगा, सारा संसार तानाशाहीके क्रूर पंजेमें आकर रहेगा। भारतमें अजीब हालत थी। नाजीवादके सभी दुश्मन थे, किन्तु उसके खिलाफ अंग्रेजोंकी मदद भी किस तरह की जा सकती थी, जो हमें गुलाम बनाकर रखे हुए थे। हमारे नेताओंकी दिमागी परेशानी देखने लायक थी, खासकर उन नेताओंकी जिनका दिमाग ज्ञान-विज्ञानसे लबालब भरा हुआ था। उन्हें एक तरफ खाई दीखती थी, दूसरी तरफ अग्निकुण्ड धधकता नजर आता था। किसीको कुछ नहीं सूझता था, किन्तु सेनापति तो वह, जो अन्धकारमें भी प्रकाश ढूँढ़ निकाले। ऐन मौकेपर उसके मुँहसे निःसृत हुआ—'भारत छोड़ो'। और, क्या यह सच नहीं कि यदि उसके मुँहसे यह वाणी न फूटती तो हम आज भी गुलाम होते?

इतिहासकी यह अमर घटना किसे याद नहीं है? नेपोलियनकी सेना विजयाभियानको निकली है, सामने आल्प्स खड़ा है। सेनाके सेनानायकों-की बुद्धि चक्करमें है, अब क्या हो? 'बढ़ो आल्प्स पार करो।' 'यह तो असम्भव है।' 'असम्भव शब्द मूर्खोंके कोषमें होता है।' और, वह देखिए, वह छोटा-सा घुड़सवार अपने घोड़ेको आगे बढ़ाता है और लीजिए, आल्प्स पार।

हमें यह घटना तो याद रह जाती है, किन्तु हम भूल जाते हैं कि सबकी जिन्दगीमें आल्प्स आता है। हम उस आल्प्सको देखते हैं, सहमते हैं, डरते हैं, हिम्मत हारकर बैठ जाते हैं या उसके पार करनेकी विस्तृत

योजनाओंमें लग जाते हैं। प्रायः होता है, योजनाएँ बनती ही रह जाती हैं हास्य मुसकराता ही रह जाता है।'

[रेडियो संग्रह, जयपुर दिसम्बर १९५१]

दृष्टान्तोंके अतिरिक्त चित्र-निर्माणका एक उपाय यह भी है कि अपने कथ्यको सामान्यके बदले विशेषके द्वारा व्यक्त किया जाय। फूल सामान्य है, पर आम या नीम कहना विशेष है। सामान्यमें चित्र-निर्माणकी शक्ति नहीं होती विशेषमें होती है। हर्बर्ट स्पेन्सर कहते हैं—'हम लोग सामान्य-के माध्यमसे नहीं सोचते बल्कि विशेषके माध्यमसे सोचते हैं।' बात सही है। इस तथ्यकी सत्यतासे वार्ताकार सहायता ले सकता है। सामान्यके माध्यमका एक उदाहरण लें—

'भारतवर्षमें आध्यात्मिक प्रश्नोंपर अनादि कालसे विचार होता रहा है। प्रत्येक युग तथा प्रत्येक दिशामें अनेक वादों तथा अनेक दर्शनोंकी उत्पत्ति हुई है।'

[प्रसारिका जुलाई दिसम्बर १९५५]

इसे विशेषके माध्यमसे भी कहा जा सकता है—'शरीरको तो हम अपनी आँखोंसे देखते हैं आत्मा कहीं दिखायी नहीं पड़ती। कहीं आत्मा है भी क्या? है भी तो क्या है? कहाँसे आती है? मृत्युके बाद शरीरका नाश होनेपर कहाँ जाती है? क्या यह धरतीपर लौटकर भी आती है? परमात्मासे उसका क्या सम्बन्ध है? मायासे उसका कैसा नाता है? यह संसार क्या है और आत्मा इससे किस तरह जुड़ी-बिछुड़ी है, ऐसे सारे आध्यात्मिक प्रश्नोंपर हमारे भारतवर्षमें प्राचीन कालसे ही विचार होता रहा है। विचारकोंने अपने-अपने ढंगसे सोचा है, अपने-अपने वाद बनाये हैं—अद्वैतवाद है विशिष्टाद्वैतवाद है विज्ञानवाद है, क्षणिकतावाद है, ऐसे ही अनेक वाद हैं।

सामान्य रूपसे कहा जा सकता है कि 'गाँवोंको स्वावलम्बी होना चाहिए स्वावलम्बनपर ही उनका सुख निर्भर है। इसीको विनोबा भावे विरोधोंके द्वारा इस प्रकार कहते हैं

गाँववालोंको अपने पैरोंपर खड़ा होना चाहिए। यही सच्चा स्वराज्य है। गाँवमें ग्रामशक्ति है। उसीसे वहाँ पैसेका निर्माण होता है। गाँवकी जरूरतकी सारी चीजें गाँवमें पैदा हो सकती हैं। गाँवमें कपड़ा बन सकता है, मकान बन सकते हैं। जो थोड़ी-सी मदद बाहरसे चाहिए, वह भी मिल सकती है। इस तरह बहुत सारा काम गाँवकी अपनी शक्तिसे होना चाहिए। हम खाते हैं, तो खुद अपने हाथोंसे खाते हैं दूसरोंके हाथसे नहीं खा सकते। खाया हुआ अपनी ही पचनेन्द्रियोंसे पचाते हैं, हमारा भोजन दूसरा कोई नहीं पचा सकता। गाँवको खुदकी ताकत जब बढ़ेगी तभी गाँवमें स्वराज्य आयेगा—जो मरेगा वही स्वर्ग देखेगा। स्वर्ग देखना चाहते हो तो मरनेकी तैयारी करो। गाँव सुखी हो गाँव आबाद हो—यह चाहते हो तो अपनी ताकतसे काम करो।'

[विनोबाके प्रवचन-संग्रहसे]

इस प्रकारका एक उदाहरण और लें। पंचवर्षीय योजना और नारी शीर्षक वार्तामें कहा गया है

'पंचवर्षीय योजनाके दो मुख्य उद्देश्य हैं—

[क] लोगोंके लिए उच्च जीवन-स्तर और

[ख] सामाजिक न्याय'

[रेडियो-संग्रह अक्टूबर दिसम्बर १९५१]

सामान्य श्रोता इससे क्या समझेगा? उसके मनमें जीवन-स्तर और सामाजिक न्यायकी कैसी धारणाएँ बनेंगी? श्रोताके मनके सामने कोई चित्र उपस्थित हो सके इसके लिए विरोधोंका उपयोग करना होगा—'पंचवर्षीय योजनाका पहला उद्देश्य लोगोंको सुखी बनाना है, देशमें इतना धन पैदा करना है कि सबको अच्छा खाना मिले अच्छा कपड़ा मिले, रहनेको अच्छा

हवादार मकान मिले। समूचे देशका हिसाब लगाकर देखा गया है कि देशका हर आदमी हर रोज सिर्फ छः आने पैसेका दूध-घी खाता है। यह औसत हिसाब है, इसमें उन लोगोंका भी हिसाब है, जो रोज रुपये-आठ आनेके दूध-घी खाते हैं। इसका मतलब यह कि देशमें ऐसे बहुत लोग हैं जिन्हें दूध-घीके दर्शन भी नहीं होते। पंचवर्षीय योजनाके द्वारा हमें ऐसा उपाय करना है कि सबको अच्छा ,खाना भर पेट मिल सके। मतलब यह कि हमें लोगोंके रहन-सहनका स्तर ऊँचा उठाना है। ['सामाजिक न्याय' को भी विरोधोंके माध्यमसे प्रस्तुत करना होगा।]

साहित्यिक वार्ताओंमें भी विरोधोंकी शक्तिका उपयोग किया जा सकता है। यह कहनेकी अपेक्षा कि 'कल्पना ही प्रतीकोंका निर्माण करती है', यह कहना कि 'यह कल्पना ही है जो हृदयकी आत्मा घूँघटको माया और शरीरको आवरणके रूपमें उपस्थित करती है' अधिक विस्मयमय एवं आकर्षक होगा।

चित्रात्मकताका एक साधन तुलना भी है। वस्तुओंकी तुलनाके द्वारा भी चित्रात्मकता आ सकती है। इसके लिए अपनी कथ्य वस्तुकी उपमा हम दूसरी वस्तुसे देते हैं। काव्योंमें तो इसका व्यवहार बहुत अधिक होता है। इससे काव्यका सौन्दर्य भी बढ़ता है। उदाहरणार्थ, राक्षस द्वारा हरी जानेपर उर्वशी मूर्च्छित हो गयी थी उसका सौन्दर्य मलिन पड़ गया था लेकिन मूर्च्छाके बाद उसका सौन्दर्य फिर निखर आया। महाकवि कालिदास कहते हैं—'लगा जैसे यह चन्द्रमाके निकल आनेपर अँधेरेसे छूटी हुई रात हो या रातके समय बिना धुएँवाली अग्निकी लपट हो या गंगाकी यह धारा हो जो कगारके गिरनेसे गँदली होकर फिर स्वच्छ हो गयी हो। इसी प्रकार कालिदास काले बादलोंमें चमकती हुई बिजलीको कसौटीपर खिंची हुई स्वर्णरेखाके रूपमें चित्रित करते हैं। कबीरदास अपनी विरहिणी आत्माकी विकलता व्यक्त करनेके लिए कहते हैं—'तन-मन मोर रहँट अस डोलै।' इस तरहके अगणित उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं।

अनुभवी वक्ता इस प्रकारकी तुलनाओंका व्यवहार अपने भाषणोंमें सदा ही किया करते हैं। कुछ उदाहरण आचार्य भावेसे ही लीजिए—

'१—सारी दुनियामें विचारका प्रवाह इधरसे-उधर और उधरसे-इधर बहता रहता है। मानसूनकी तरह क्रान्तिकारक विचार भी बाहरसे यहाँ आयेंगे और यहाँसे बाहर जायेंगे। हवाकी तरह विचारको भी किसी पास पोर्टकी जरूरत नहीं होती। विचारको कोई भी दीवाल नहीं रोक सकती।

२—मुक्तिका अर्थ यह है कि मानव अपने निजके जीवनको शून्य बनाये और विश्वके—समाजके—जीवनमें विलीन हो जाय। जिस तरह नदी समुद्रमें लीन हो जाती है, उसी तरह मानव अपनी सारी शक्ति परमेश्वरमें लीन करे। हजार मस्तकों हजार हाथों और हजार नेत्रोंसे हम विश्वरूप भगवान्‌की सेवामें लग जायें जो हमारे सामने खड़ा है।

३—हिन्दुस्तानमें जो तीन-चार बड़े सम्राट् हो गये हैं, उनमें हर्षका नाम आता है। हर्षके कपड़ेका वर्णन आया है। वह मेरे समान एक नीचे और एक ऊपर धोती पहनता था, किसानकी तरह सादगीसे रहता था। राजाकी यही खूबी थी कि सम्पत्तिका सबस्व दान दे डालना। फिरसे कमाना और फिरसे दान देना—यह क्रिया चलती थी। सूर्यनारायण समुद्रसे पानी खींच ले जाते हैं और जितना ले जाते हैं उतना बादमें लौटा देते हैं। खारा पानी ले जाते हैं और मीठा पानी दे जाते हैं। इसी प्रकार राजाको होना चाहिए।

['त्रिवेणी' प्रवचन-संग्रहसे]

इन सभी उदाहरणोंमें यह देखा जा सकता है कि किस प्रकार गम्भीर बातें भी स्पष्ट होकर आँखोंके सामने आ जाती हैं। हाँ तुलना करते समय जो सबसे बड़ी विशेषता होनी चाहिए, वह इन सभी उदाहरणोंमें है: अपरिचित वस्तु या विचारकी स्पष्ट अभिव्यक्तिके लिए उसकी उपमा परिचित वस्तुओंसे दी जानी चाहिए। अगर हम कहते हैं कि विचार हवाकी तरह कहींसे-कहीं आ-जा सकता है तो अपना मन्तव्य स्पष्ट होता है, लेकिन अगर

इस राजस्थानकी धरतीका विस्तार व्यंजित करनेके लिए कहें—'अफ्रीकाके रेगिस्तान सहाराका विस्तार' तो भारतके जिन लोगोंने सहाराको नहीं देखा है, उनके मनमें राजस्थानके विस्तारका कोई स्पष्ट चित्र सामने नहीं आयेगा। उपमा सदा परिचित वस्तुओंसे ही दी जानी चाहिए। हाँ प्रश्न हो सकता है—किन लोगोंकी परिचित वस्तुओंसे? वार्ताकारकी नहीं, श्रोताओंकी। और इसके लिए यह जानना आवश्यक हो जाता है कि वह किसके लिए, किस वर्गके श्रोताओंके लिए वार्ता प्रसारित कर रहा है। वार्ताकारको इस बातका ध्यान रखना पड़ेगा कि उसकी वार्ता बच्चोंके लिए है, महिलाओंके लिए है, ग्रामीणोंके लिए है या शिक्षितों एवं साहित्यिकोंके लिए है। श्रोता-वर्गोंका प्रभाव किस प्रकार वार्ताकी रचना-पर पड़ता है, इसका विवेचन हम आगे यथास्थान करेंगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि वार्ता जिस वर्गके लिए है उसकी परिचित वस्तुओं द्वारा ही उसमें चित्रमयता आनी चाहिए।

चित्रात्मकतामें सबसे अधिक बाधक होती हैं संख्याएँ। बड़ी-बड़ी संख्याओंका सुनना श्रोताओंको बहुत ही अरुचिकर होता है। सभी अनुभवी प्रसारणकर्ताओंने इसपर जोर दिया है कि वार्ताओंमें आँकड़ोंका कमसे-कम व्यवहार होना चाहिए। जान एस० कार्लाइल साफ शब्दोंमें कहते हैं कि 'नीरस आँकड़ोंको दूर रखिए।' लेकिन आँकड़ोंके बिना काम तो चलनेवाला है नहीं इसलिए उन्हें भी आकर्षक और प्रभावोत्पादक ढंगसे प्रस्तुत करना वार्ताकारका कर्तव्य है। कार्लाइलके ही शब्दोंमें 'बड़ी-बड़ी संख्याओंको चित्रोंमें परिवर्तित कर दीजिए।' उदाहरणके लिए जैसा कि वेबेंट उनवर कहते हैं कि कोई वार्ताकार नगर-योजनापर बोलते समय श्रोताओंको आबादीकी सघनताकी झलक देना चाहता है। वह जानता है कि सामान्य श्रोताके लिए जैसे नब्बे हजारका कोई अर्थ नहीं है वैसे ही पचहत्तर हजार का भी। लेकिन अगर वह कहे, 'इस नये नगरमें हर व्यक्तिको एक अपना घर होगा और हर नवविवाहित दम्पतिको उन सुविधाओंसे सम्पन्न

एक फ्लैट', तो वह ऐसा कुछ कह रहा है, जिसे श्रोता सरलतासे ग्रहण कर सके।

इस तरहका एक उदाहरण हमलोग प्रसारित वार्ताओंसे लें। आकाशवाणीसे प्रसारित वार्ताओंमें अधिकतर नीरस आँकड़े ही प्रस्तुत किये जाते हैं। 'नवीन भारतके तीर्थ-स्थान' वार्तासे यह एक अंश है—

'मयूराक्षीका पानी अब प्रतिवर्ष बीरभूम बर्दवान और मुर्शिदाबाद, इन तीन जिलोंकी ६ लाख एकड़ भूमिका अभिषेक कर रहा है और इस सिंचनसे ३६ लाख मन अतिरिक्त धान और चावल बंगालको प्रतिवर्ष मिल रहा है।'

[आकाशवाणी प्रसारिका अप्रैल-जून १९५९]

सचमुच सामान्य श्रोताके लिए छः लाख और आठ लाखमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसी प्रकार, जैसा ३६ लाख मन वैसा ही ४० लाख मन। इन आँकड़ोंसे कोई निश्चित धारणा इनके सम्बन्धमें नहीं बनती। लेकिन वार्ताकार चाहे तो निश्चित धारणा बनायी जा सकती है 'मयूराक्षीके पानीसे अब प्रति वर्ष बंगालकी धरतीका लगभग पाँचवाँ हिस्सा सींचा जा रहा है—बीरभूम मंगैधाए बर्दवान और मुर्शिदाबादकी छः लाख एकड़ धरती। उससे उपज भी बढ़ी है। बंगालको अब प्रति वर्ष ३६ लाख मन अधिक धान और चावल मिल रहा है। इस अधिक उपजका मतलब यह है कि बंगाल-के हर आदमीको अब हर साल २८ सेर अनाज अधिक मिल रहा है। इस अनाजसे कलकत्ताका हर आदमी—अर्थात बूढ़ा और जवान स्त्री-पुरुष—लगभग डेढ़ महीने तक रोज भोज पा सकता है।

इस प्रकार शब्दोंकी शक्तिका उपयोग कर रेडियो-श्रोताओंको मानसिक तुष्टिके लिए पर्याप्त रोचक सामग्री उपस्थित की जा सकती है।

रेडियो-वार्त्ता और श्रोताकी ग्रहण एवं स्मरण-शक्ति

फुटबालके मैदानमें जब निश्चित समयपर एक दल नहीं उपस्थित होता तो दूसरा दल एकतरफा गोल करके अपनेको विजयी समझ लेता है। रेडियो-वार्त्ता-प्रसारणके समय श्रोता हमेशा ही वार्त्ताकारके सामनेसे अनुपस्थित रहता है फलतः यह भय बना रहता है कि कहीं वह भी एकतरफा गोल तो नहीं कर रहा है। रेडियो-कार्यक्रमोंकी सार्थकता उनके प्रसारणमें नहीं उनकी ग्रहणीयतामें है। वार्त्ताकार अपनी वार्त्ता प्रसारित कर देता है, यहीं उसका कार्य समाप्त नहीं हो जाता बल्कि उसे यह भी देखना है कि दूसरे छोरपर उसकी बातें केवल सुनी ही नहीं जातीं बल्कि ग्रहण भी की जाती है। एक अनुभवी रेडियो-लेखक कहता है कि वार्त्ताकारकी मेज़पर यदि कोई ऐसा यन्त्र लगाया जाय जिसकी जलती-बुझती बत्तियाँ वार्त्ताकारको सूचित करती रहें कि कितने लोग उसकी वार्त्ता सुन रहे हैं और उनपर उसकी क्या-क्या प्रतिक्रियाएँ हो रही हैं तो उसे अपने प्रसारण कार्यकी सफलताका कुछ ज्ञान हो। ऐसा कोई यन्त्र अभी तक बना नहीं है इसलिए वार्त्ताकारको प्रसारणके पहलेसे ही इतना सतर्क रहना है कि उसकी वार्त्ता उसके श्रोताओंके पास पहुँचे ही। इस पहुँचनेका अर्थ यह है कि वार्त्ताकार जो कुछ कहे श्रोता उसे सरलतासे समझे उसे ग्रहण

करे, उससे प्रभावित हो, उससे आनन्द प्राप्त करे और आवश्यकता समझे तो उसे स्मृतियोंके कोषमें संचित रख सके।

जैसा पहले कहा जा चुका है, रेडियोका श्रोता निबन्ध-पाठकोंसे भिन्न है, उसे प्रसारित रेडियो-कार्यक्रमके किसी अंशको दुबारा सुननेकी सुविधा नहीं है। रेडियोसे काव्य-प्रसारणके सम्बन्धमें बोनामी डोब्री कहते हैं—'मुद्रित कविता पढ़नेसे भिन्न यदि आप उसे प्रसारित रूपमें सुनते हैं तो उसका अधिकाधिक अंश एक ही बारमें ग्रहण करनेमें आपको समर्थ होना चाहिए। रेडियो-वार्ताके लिए भी यह बात बिलकुल सही है। श्रोता किसी वार्ताको एक ही बार सुनकर उसका अधिकाधिक अंश ग्रहण करनेमें समर्थ हो सके इसका अधिक उत्तरदायित्व वार्ताकारपर है। इसके लिए सबसे पहली आवश्यकता यह है कि वार्ताकारकी अभिव्यक्ति साफ और सुलझी हुई हो। रेडियोके सभी अनुभवी प्रसारणकर्ता इस सरल एवं स्पष्ट अभिव्यक्तिको प्रसारणकी पहली शर्त मानते हैं। देखने और पढ़नेमें यह बड़ी सीधी और छोटी-सी बात है, पर व्यवहारमें स्पष्ट अभिव्यक्ति बहुत ही कठिन है। प्रसिद्ध वक्ता डेल कार्नेगी कहते हैं—स्पष्टता के महत्व और उसकी कठिनाईको कम मत समझिए। अभी हाल ही मैंने एक आदरित कविको अपनी कविताएँ सुनाते हुए देखा। आधे समय तक दर्शकोंका दस प्रतिशत भी यह नहीं समझ रहा था कि वह किस विषय-पर बातें कर रहा है। जनताके बीच और व्यक्तिगत जीवनमें भी ऐसे वार्ताकार बहुत हैं। अपने यहाँकी प्रसारित वार्ताओंमेंसे ऐसे अनेक अंश उद्धृत किये जा सकते हैं, जिन्हें केवल एक बार सुनकर समझ लेना कठिन ही नहीं असम्भव है। 'आकाशवाणी प्रसारिका [अक्तूबर-दिसम्बर १९५७] में प्रकाशित दो वार्ताओंसे एक-एक अंश उद्धृत है। पहला अंश 'आचार्य शुक्लका दरबार' शीर्षक वार्ताका है

मनुष्यके हृदय और मस्तिष्कका गौरव जब-जब साहित्यके रूपोंमें अभिव्यक्त हुआ है तब-तबके उस साहित्यके रूपकी जब हम आलोचना

करते हैं तब हमें यही एक सत्य दृष्टिगोचर होता है कि अपने युगजीवनके रूपके भीतर रहकर ही उन्हीं परिस्थितियोंमें मनुष्यने अपनी मानवताके सीमित रूपको अनन्त बनानेका प्रयास किया है। अपने युगकी पूजा-सामग्री से असीमकी उपासना करके सीमित मानव अपने साहित्यके सत्प्रयाससे असीम बन जानेके सत्प्रयत्न करता चला आ रहा है। वेदोंके युगसे आरम्भ करके ब्राह्मण उपनिषद् तथा पुराणोंके युगोंकी साहित्यिक साधनाका दर्शन करते हुए वर्तमान युग तक पहुँचकर हम इसी सत्यका साक्षात्कार करते हैं कि प्रत्येक साहित्यमें मनुष्यने अपने युगकी सामग्रीके भीतर ही अपने युगकी परिस्थितियोंके भीतर ही अपने अनन्त स्वरूपकी साधना करनेका प्रयास किया है।

यह दूसरा अंश 'रोमांस' शीर्षक वार्ताका है

यूरोपके इतिहासके पृष्ठोंको उलटनेसे यह ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण मध्य युगके वर्षोंमें पीछे रोमन रीति-रिवाज तथा कुलीन तन्त्रके दमुदैमिक रीति-रिवाजोंमें एक विचित्र विभाजन है। दोनों प्रकारके रीति-रिवाज सभ्यताके निर्माणकी ओर अग्रसर हो रहे थे परन्तु दोनोंके मार्ग भिन्न भिन्न थे। कुलीनतन्त्र वर्गने सभ्यताके लिए सामान्य विधि धर्म निरपेक्ष सरकार, वीरता कविता और रोमांस प्रदान किया। इन अनेक देनोंमें रोमांस एक महत्त्वपूर्ण देन थी।

इन दोनों उद्धरणोंकी बोधगम्यताके सम्बन्धमें अपनी ओरसे कुछ कहनेकी अपेक्षा यही उचित ज्ञात होता है कि इसके साथ ही सरल एवं स्प अभिव्यक्तिके उदाहरण-स्वरूप भी एक अंश उद्धृत कर दिया जाय। य अंश 'सर्वोदय' शीर्षक वार्ताका है' यह वार्ता भी आकाशवाणीसे प्रसारि हुई थी। उद्धृत अंशमें यह देखा जा सकता है कि सत्यकी खोज-‍ गम्भीर विषयकी व्याख्या किस प्रकार की गयी है

'यह सर्वोदय विचार है क्या? पहली बात यह समझ लेनी चाहिए यह कोई वाद नहीं है जैसे कि कई प्रकारके वाद आज प्रचलित हैं।

एक मुक्त विचार है। महात्माजीने स्वयं जोर देकर कहा था कि उन्होंने किसी भी प्रकारके वादकी स्थापना नहीं की है। वह तो केवल सत्यकी खोजमें लगे रहे थे। इसी खोजमें उन्हें अहिंसा अथवा सर्वोदयका विचार मिला था।

सत्यकी खोज महात्माजीके साथ समाप्त हो चुकी या जो कुछ उन्होंने ढूंढ़ निकाला उतना ही सत्य है—ऐसी बात भी नहीं है, और न कोई सर्वोदय विचारवाला ऐसा कहेगा। सत्यकी खोज मानव-जीवनके प्रारम्भिक कालसे चली आ रही है और जब तक मानव जाति कायम है, यह खोज चलती रहेगी। मानवकी यह सबसे बड़ी विशेषता है कि वह बराबर सत्यकी खोजमें लगा रहता है। यह उसका सहज स्वभाव है। जब मानवका छोटा बच्चा बारम्बार पूछता है—'बाबूजी यह क्या है?' तब वह सत्यकी खोज ही कर रहा है। असत्य तो घर बैठे-बैठे गढ़ लिया जा सकता है, जैसा कि दुनियामें हर दिन होता है।

यह अंश प्रसिद्ध सर्वोदय नेता जयप्रकाश नारायणकी वार्ताका है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि जनताके सम्पर्कमें रहकर उसे अपनी बातें प्रयत्न करके समझानेवाला व्यक्ति अभिव्यक्तिमें सरलता और स्पष्टताके महत्त्वको भलीभाँति जानता है, वह लोगोंके सामने अस्पष्ट हो ही नहीं सकता। प्रत्यक्ष भाषणोंमें अस्पष्ट होनेका खतरा कम रहता है। और उलझी हुई बातोंको सुनकर जब दर्शकोंके मुँहपर हवाइयाँ उड़ने लगती हैं, तब समझदार वक्ताको अपनी दुर्बलता स्वतः ज्ञात हो जाती है। श्रोताओंकी प्रत्यक्ष अनुपस्थितिके कारण रेडियो-वार्तामें अस्पष्ट होनेका खतरा बहुत होता है जिसकी चर्चा हम पहले ही कर आये हैं। वार्तामें अस्पष्टता न रहे, इसके लिए आवश्यक है कि वार्ताकी शब्दावली सीधी-सादी और सरल हो। बातोंको घुमा-फिराकर न कहकर बिलकुल सीधे ढंगसे कहा जाय। रेडियोसे सम्बद्ध सभी अनुभवी व्यक्ति इन बातोंपर जोर

[illegible] रहे हैं। जान एस० कार्लाइल कहते हैं—स्पष्ट और प्रत्यक्ष होइए। बड़े विचारोंको आने दीजिए, पर उनके सम्बन्धमें स्पष्ट रहिए।

वार्ताकी बोधगम्यता बढ़ानेके लिए कुछ और बातोंपर भी ध्यान देना आवश्यक होता है। विशदता, दृष्टान्तोंके उपयोग, सामान्यके समर्थनमें विशेषके व्यवहार आदिकी चर्चा इसके पहलेवाले अध्यायमें हो चुकी है। यहाँ कुछ और बातोंकी ओर संकेत किया जा रहा है। अपने तथ्योंको स्पष्ट करनेके लिए कभी-कभी उनकी आवृत्ति आवश्यक होती है। बातोंको दुहरा देनेसे वे स्पष्ट हो जाती हैं। हाँ वे बातें विभिन्न शब्दावलियोंमें दुहरायी जायँ यह जरूरी है अन्यथा प्रयत्न हास्यास्पद बनेगा। सफल लेखक एवं वक्ता इस बातके महत्त्वको अच्छी तरह समझते हैं। उदाहरणके लिए, 'सर्वोदय' बातके ही कुछ वाक्य लें

मानव एक सामाजिक प्राणी है, और जहाँ भी वह पाया जाता है छोटे-बड़े समूह बनाकर रहता है। मानव-जीवन समूह या समाजसे अलग चल ही नहीं सकता। मनुष्य अकेला नहीं रह सकता।

यहाँ अन्तिम दो वाक्योंमें पहले वाक्यकी बातको ही दूसरे-दूसरे शब्दोंमें दुहराया गया है। गम्भीर विषयोंकी व्याख्यामें तो आवृत्तिकी अपेक्षा और अधिक होती है।

वार्ताओंकी बोधगम्यतामें बहुत अधिक बाधा टेक्निकल शब्दोंके व्यवहारसे होती है। वार्ता सामान्यतः अपने-अपने विषयके विशेषज्ञ ही [illegible] हैं और अपने विषयको प्रस्तुत करते समय उनमें अपने विषयके शास्त्रीय शब्दोंके व्यवहारकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। वैज्ञानिक अर्थशास्त्री डाक्टर, जीवशास्त्री कला-विशेषज्ञ—सभी अपने विषयपर बोलते समय बहुधा ऐसे शास्त्रीय शब्दोंका व्यवहार करते हैं जो सामान्य श्रोताओंकी समझके बाहर हैं। वार्ताकारको पहले ही यह सोच लेना है कि वह केवल अपने क्षेत्रके दूसरे विशेषज्ञोंसे ही बातें कर रहा है या समाजके सामान्य व्यक्तियोंसे यदि वह सामान्य व्यक्तियों तक अपने विचारोंको पहुँचाना

चाहता है तो उसे अपने विषयके टेक्निकल शब्दोंके व्यवहारमें बचना होगा यदि कोई ऐसा शब्द आ ही जाय तो उसे उसकी व्याख्या करनी होगी। प्रसिद्ध वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बसुका परिचय देते हुए एक वार्ताकार कहता है

'बोसने २५ वर्षकी आयुमें ही विद्युत्-चुम्बकीय तरंगोंके गुणोंका अध्ययन करना प्रारम्भ किया। ये तरंगें वे ही हैं जिनसे रेडियो द्वारा ध्वनि प्रसारित की जाती है। उस समय इन तरंगोंको उत्पन्न करने या ग्रहण करनेकी अच्छी रीति ज्ञात न थी। बसुने इन तरंगोंको उत्पन्न करनेके लिए अत्यन्त सुविधाजनक और छोटे स्थानमें आ सकने योग्य एक यन्त्र बनाया जिसमें प्लैटिनमकी दो गोलोंके बीच चिनगारियाँ छूटती थीं और इस प्रकार विद्युत्-तरंगें उत्पन्न होती थीं।

[आकाशवाणी प्रसारिका अप्रैल-जून १९५६]

इस अंशमें 'विद्युत्-चुम्बकीय तरंग' एक टेक्निकल शब्द आया है। सामान्य श्रोता इसे समझ नहीं पायगा। यह नहीं है कि यहाँ वार्ताकारने उसकी व्याख्याका प्रयत्न किया है पर यह एक पंक्तिकी व्याख्या [जिनसे रेडियो द्वारा ध्वनि प्रसारित की जाती है] अपर्याप्त है। इससे श्रोता यह समझ नहीं पायगा कि यह ध्वनि कहाँ होती है—धरतीपर या आसमानमें? इनकी विशेषताएँ क्या हैं? आदि। विद्युत्-तरंगोंकी व्याख्यापर ही बोसकी इनसे सम्बन्धित खोजका महत्त्व निर्भर है। वार्ताकार उक्त स्थलपर अपने श्रोताओंको सामान्य शब्दावलीमें बतला सकता था कि आप मेरी जो आवाज सुन रहे हैं वह साधारण ध्वनि-तरंगोंके सहारे नहीं रेडियो-तरंगोंके सहारे आ रही है। आपसे सौ गज दूर बैठे हुए आदमीकी आवाज जितनी देरमें आपके पास पहुँचेगी उससे बहुत पहले ही मेरी आवाज कोसोंकी दूरी तय कर आपके पास पहुँच रही है। साधारण ध्वनि-तरंग पृथ्वीका चक्कर लगानेमें कम-से-कम ४० घण्टे लेगी जबकि रेडियो तरंग एक सेकेण्डमें पृथ्वीके साढ़े सात चक्कर लगा लेती है। इतनी तेज

है इसकी गति। इसीको विद्युत्-तरंग भी कहते हैं। बोसने इसके गुणोंके सम्बन्धमें जो खोज की वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। आदि-आदि।

इसी क्षेत्रके विशेषज्ञोंको सामान्य श्रोताओंके लिए वार्त्ता प्रसारित करते समय इस बातपर ध्यान रखना चाहिए। श्रोताओंमें अधिक ज्ञानका अनुमान कर लेना वार्त्ताकी बोधगम्यतामें बहुत ही बाधक होता है। श्रोता एक ही मानसिक स्तरपर नहीं होते। उनकी शिक्षा संस्कार, ज्ञान सभी विभिन्न स्तरोंपर होते हैं। वार्त्ताकारको इन विभिन्नताओंपर ध्यान रखना है। उसे अपनी वार्त्ताको उस स्तरपर रखना है, जहाँ वह अधिकाधिक श्रोताओंके लिए बोधगम्य हो सके। ऐसा न करना वार्त्ताओंको असफल बनाना है। प्रो० वर्मनने रेडियो-वार्त्ताओंकी बोधगम्यताके सम्बन्धमें खोज की है, और वे इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि सबसे कम समझमें आनेवाली वार्त्ताएँ वही रही हैं, जिनमें वार्त्ताकारोंने अपने श्रोताओंमें बहुत अधिक ज्ञानका अनुमान कर लिया था। जेनेट डनबर भी यही बात कहते हैं कि कुछ लोग अपने श्रोताओंकी मौलिक सूचनाओंको बहुत अधिक मान लेते हैं और उनकी बातें श्रोताओंके सिरके ऊपरसे ही निकल जाती हैं। सचमुच वार्त्ताकारको सतर्क रहना है कि उसकी बातें श्रोताओंके सिरके ऊपरसे ही न निकल जायँ बल्कि सिरके भीतर पहुँचे। श्रोताओंमें किस प्रकार अधिक ज्ञानका अनुमान कर लिया जाता है, इसका परिचय 'अरपी भाव' शीर्षक वार्त्ताके इस अंशसे मिल जा सकता है। वार्त्ताकार मन्दिरों-की चर्चा करता है:

'इस मन्दिरका शिखर उत्तर भारतके शिखरमन्दिरोंकी नागरशैलीका है जिसे शुकनासा शिखर भी कहते हैं। इसके ऊपरी छोरपर एक आमलक सरीखा कलश है। अलकनन्दाकी घाटीमें इसी प्रकारके मन्दिर हैं और उनका सम्बन्ध विष्णुकी आराधनासे है। परन्तु पास हीकी मन्दाकिनी घाटीमें शिव-मन्दिरोंका साम्राज्य है। उनपर स्पष्ट रूपसे दक्षिणकी स्थापत्य

कलाका प्रमाण है, यद्यपि स्वयं केदारनाथका मन्दिर यूनानी शैलीकी याद दिलाता है, विशेषकर उसके अग्रभागमें बने हुए छप्परका त्रिकोण।

[रेडियो-संग्रह, अक्टूबर दिसम्बर १९५१]

इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि वार्त्ताकारने यह मान लिया है कि श्रोता स्थापत्य कलाकी विभिन्न शैलियोंसे परिचित है। स्थल-स्थलपर वह विभिन्न शैलियोंके परिचयके लिए संकेत देता है पर ये संकेत बहुत संक्षिप्त और अपर्याप्त हैं। वार्त्ताकार यदि इनके बदले मन्दिरोंके शब्द-चित्र उपस्थित करता तो वे श्रोताओंके लिए विशेष बोधगम्य होते।

बी० बी० सी० की वार्त्ताओंकी बोधगम्यताके सम्बन्धमें प्रो० बगन द्वारा की गयी जिस खोजका उल्लेख पहले किया गया है उससे इस महत्त्वपूर्ण बातका भी पता चलता है कि वार्त्ताओंकी बोधगम्यता केवल अभिव्यक्तिकी सरलता और स्पष्टतापर ही नहीं बल्कि विषयकी रोचकता पर भी निर्भर है। उक्त खोजके आधारपर कहा गया है—'रोचक वार्त्ता उस वार्त्ताकी अपेक्षा सरलतासे समझी जाती है, जिसे समझना वास्तवमें आसान होनेपर भी जिसका विषय नीरस होता है।' बात सही है। जिस विषयमें मनुष्यकी रुचि होती है उसकी बोधगम्यतामें दो-चार कठिन शब्द भी बाधक नहीं हो सकते। इसीलिए सभी रेडियो-कला-विशेषज्ञ वार्त्ताकी रोचकतापर जोर देते हैं। जॉन एस० कार्लाइल्स कथन है—'इसका निश्चय कर लो कि विषय सामान्य रुचिका है।' जेनेट डनबर कहते हैं कि 'टेलिविजनके दृश्यत्वके साथ यदि सफलतापूर्वक प्रतिद्वन्द्विता करनी है, तो रेडियो-वार्त्ताको श्रोताओंका ध्यान अपनी विषय-वस्तु और अभिव्यक्ति के द्वारा आकृष्ट करना पड़ेगा।' वार्त्ताकारके लिए रेडियो-वार्त्तामें रोचकता के महत्त्वको स्वीकार करना आवश्यक है।

विषयकी रोचकताके सम्बन्धमें यह अवश्य कहा जा सकता है कि रुचि व्यक्ति-व्यक्तिके अनुसार बदलती रहती है एक व्यक्तिकी रु-

गणितमें हो सकती है, दूसरेकी दर्शनमें, तीसरेकी साहित्यमें। इसी प्रकार विभिन्न व्यक्तियोंकी रुचियाँ विभिन्न विषयोंमें। यह रुचियोंके भिन्न-भिन्न धरातलों और प्रकारोंकी बात है, यह अपनी जगहपर सही है इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। लेकिन रुचियोंका एक सामान्य धरातल भी होता है, कुछ ऐसे स्तर भी हैं जहाँ व्यक्ति-व्यक्तिकी रुचिका अन्तर मिट जाता है। उन स्तरोंपर बात करके वार्ताकार अपनी वार्ता अधिकांश श्रोताओंके लिए रोचक बना सकता है। यहाँ कुछ ऐसे स्तरोंकी बात की जा रही है।

मनोवैज्ञानिक मानव-मनके अध्ययनके द्वारा इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि मनुष्यकी सबसे अधिक रुचि स्वयं अपनेमें होती है। प्रोफ़ेसर जेम्स हार्वे रॉबिन्सन कहते हैं कि 'जागनेकी घड़ियोंमें हम लोग हमेशा ही अपने विषयमें सोचते हुए मालूम पड़ते हैं और हमलोगोंमेंसे अधिक लोग जानते हैं कि सोते रहनेपर भी हमलोग इसी प्रकार सोचते जाते हैं।...हमलोगोंके लिए स्वयं अपनेसे बढ़कर दूसरी कोई भी रोचक वस्तु नहीं है।' वार्ताकार मनोविज्ञानके इस अध्ययनसे लाभ उठा सकता है। वार्ताके विषयका सम्बन्ध श्रोताओंके जीवनसे होना चाहिए। श्रोताकी रुचि पंचवर्षीय योजनामें अन्न-उत्पादनमें उतनी नहीं जितनी इस बातमें है कि उस अन्न-उत्पादनका प्रभाव स्वयं उसके और राष्ट्रके दूसरे व्यक्तियोंके जीवन पर क्या पड़ेगा। नाप-तौलकी नयी मेट्रिक प्रणालीमें उतनी रुचि नहीं जितनी इस बातमें है कि यह नयी प्रणाली उसके जीवनको किस प्रकार प्रभावित करेगी। इस प्रकार किसी भी वार्ताका सम्बन्ध श्रोताओंके जीवनसे जोड़कर उसे रोचक बनाया जा सकता है। इस सम्बन्धमें जॉन एस० मार्शल एक उदाहरण देते हैं—'स्कूलके छात्रोंकी दो टीमोंके बीच अभी हाल ही प्रसारित एक वाद-विवाद इसका बड़ा सुन्दर दृष्टान्त प्रस्तुत करेगा। विवाद एक अन्तर्राष्ट्रीय विषयपर था, जिसके लिए समसामयिक इतिहास, राजनीति आदिके विस्तृत ज्ञानकी अपेक्षा थी।...कितना अच्छा

होता मगर छात्रोंके स्व-शासनके गुण-दोषोंपर वाद विवाद प्रस्तुत किया गया रहता। सचमुच यह विषय स्कूलके छात्रोंके लिए अधिक रुचिकर होता।

यहाँ आकाशवाणीसे प्रसारित वार्त्ताओंके सम्बन्धमें यह कह देना उचित ज्ञात होता है कि उनके विषय वार्त्ताकार नहीं निश्चित करते रेडियो कार्यक्रमोंकी रूप-रेखा बनानेवाले वहाँके अधिकारी ही निश्चित करते हैं। वे ही वार्त्ताओंके विषय निश्चित करते हैं और उनपर बोलनेके लिए वार्त्ताकारोंको आमन्त्रित करते हैं। वार्त्ता देनेके इच्छुक व्यक्ति भी कभी-कभी अपनी रचनाएँ विचारार्थ भेजते हैं, पर चूँकि उनमेंसे अधिकांश रचनाएँ वार्त्ता नहीं होतीं, वे स्वीकृत नहीं हो पातीं। अयाचित रचनाएँ भी वार्त्ताकी दृष्टिसे सफल होने तथा आकाशवाणीकी नीतिके अनुकूल होनेपर स्वीकृत होती हैं, और हो सकती हैं, इसमें सन्देह नहीं। विषय का निश्चय चाहे रेडियो-अधिकारी करें, चाहे वार्त्ता देनेके आकांक्षी व्यक्ति उसका ध्यान बातके रोचक पक्षपर होना चाहिए। यह बहुत ही महत्त्व-पूर्ण प्रश्न है। मैं समझता हूँ कि रेडियो-वार्त्ताको रोचकताकी जितनी कठिन प्रतियोगितासे मुकाबला पड़ता है, उतनी और किसी भी साहित्य-रूपको नहीं। सुईकी नोंक जितनी दूरीपर गीत बज रहा है, नाटक हो रहे हैं, जिनकी रोचकतामें सन्देह नहीं किया जा सकता। इन सबके साथ रेडियो वार्त्ताकी प्रतियोगिता है। श्रोता रेडियो-वार्त्ता सुने और सुनता रहे, सुई को गीतवाले स्टेशनपर न जमा दे वार्त्ताकारको इस बातपर ध्यान देना है। इसीपर उसकी सफलता निर्भर है। और यह विषय और अभिव्यक्तिकी रोचकताके द्वारा ही हो सकता है।

रोचकताके सम्बन्धमें दूसरी बात ध्यान देनेकी यह है कि मनुष्य विचारों और भावोंसे अधिक दूसरे लोगोंके जीवनमें अभिरुचि रखता है। दूसरे लोगोंके जीवनकी कहानियोंमें भी आकर्षण होता है। कहानियों और उपन्यासोंमें जो इतनी रोचकता होती है, उसका यही रहस्य है। जिन वार्त्ताओंके विषय मानवीय तत्त्वोंसे सम्बन्ध रखेंगे वे रोचक होंगे इसमें

सन्देह नहीं। भाषा-विवरणों अपने अनुभवों आदिसे सम्बन्धित वार्त्ताओंमें इस मनोवैज्ञानिक सत्यका उपयोग किया जा सकता है।

अभीतक श्रोताओंकी बोध-शक्ति और वार्त्ताकी बोधगम्यताके सम्बन्धमें विचार हुआ। अब हम श्रोताओंकी स्मरण-शक्तिसे सम्बन्धित प्रश्नोंपर विचार करेंगे। वार्त्ताकारको अपने श्रोताओंकी मानसिक शक्तिका भी ध्यान रखना पड़ता है। कोई भी बात स्मृतिमें टिक सके इसके लिए वे सभी बातें अपेक्षित हैं जिनकी चर्चा हम अबतक करते रहे हैं। वार्त्ता सरल और स्पष्ट हो सहज बोधगम्य हो उसमें चित्रात्मकता हो साथ ही मनपर गहरा प्रभाव डालनेकी शक्ति हो। इनके अतिरिक्त भी कुछ और बातें हैं जिनपर ध्यान देना आवश्यक है।

एक ही बार बहुत-सी बातोंको सुनकर उन्हें स्मरण रखना सम्भव नहीं है। सामान्य श्रोताकी मानसिक शक्ति सीमित होती है, वह एक ही साथ अनेक तथ्योंको ग्रहण नहीं कर सकता। इसलिए यह आवश्यक है कि छोटी-सी अवधिकी वार्त्तामें बहुत-सी बातें न कही जायें। आकाशवाणीसे प्रसारित वार्त्ताओंकी अवधि पाँच मिनटसे लेकर बीस मिनट तककी होती है; बीस मिनटवाली वार्त्ताएँ तो विशेष कार्यक्रमोंमें ही होती हैं, सामान्य वार्त्ताकी अवधि दस मिनट रहती है। दस मिनटकी वार्त्तामें अनेकानेक तथ्योंको रखनेका प्रयत्न उचित नहीं कैसिन होता अधिकतर यही है पूरी वार्त्ताकी बात तो अलग है, एक-एक अनुच्छेदमें इतने तथ्योंको रखा जाता है कि श्रोताकी स्मृतिके पल्ले कुछ नहीं पड़ पाता। एक उदाहरण लीजिए

कम्प्ट्रोलर आफ़ इन्स्योरेन्स द्वारा ११ दिसम्बर, १९५४ को प्रकाशित आँकड़ोंके अनुसार विदेशी बीमा-कम्पनियोंके पास भारतके लोगोंकी २ लाख ४४ हजार पालिसियाँ चालू थीं जो १ अरब २६ करोड़ ९१ लाख रुपयेकी थीं और हर साल ७ करोड़ ४५ लाख रुपया उनकी प्रीमियमके रूपमें अदा किया जाता है।

हिन्दुस्तानी जीवन-बीमा-कम्पनियोंकी कुल जायदाद ११ दिसम्बर,

१९५४को लगभग ३ अरब १ करोड़ ३३ लाख रुपयेकी थी और विदेशी कम्पनियोंकी लगभग ५० करोड़ ११ लाख रुपयेकी। इसमेंसे भारतीय बीमा-कम्पनियोंने १ अरब १४ करोड़ ९० लाख रुपया यानी ५४६ प्रतिशत रुपया सरकारी सिक्यूरिटियोंमें ४८ करोड़ ५७ लाख रुपया यानी १६ प्रतिशत रुपया प्राइवेट कम्पनियोंके हिस्सोंमें और ३० करोड़ ९७ लाख रुपया यानी १० प्रतिशत रुपया रहन भूमि और मकानों आदिमें लगाया हुआ है। इसी प्रकार विदेशी कम्पनियोंका ३० करोड़ ६४ लाख रुपया भारतीय कम्पनियोंमें और बाकी विदेशी सरकारोंकी सिक्यूरिटियोंमें लगा हुआ है।

जीवन-बीमाका राष्ट्रीयकरण क्यों किया गया है, इसपर प्रकाश डालते हुए भूतपूर्व वित्तमन्त्री श्री देशमुखने निम्न तीन बातें बतायी थीं—

१—दूसरी पाँचसाला योजनाके लिए सरकारको पूँजीकी सख्त जरूरत है।

२—पहली पाँचसाला योजनामें यह नीति बनायी गयी थी कि जनताकी बचतका जितना रुपया है, वह सब सरकारके अधिकारमें होना चाहिए ताकि वह महफूज रहे और राष्ट्रके कामोंमें लगाया जा सके।

३—देशमें समाजवादी आर्थिक ढाँचा क़ायम करनेके लिए भी उक्त कार्रवाई जरूरी है।

[आकाशवाणी प्रसारिका अप्रैल-जून १९५६]

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि एक साथ इतने आँकड़ों और तथ्योंका माना वार्ताको निश्चित रूपसे असफल बना देना। लेकिन वार्ताकारोंमें ऐसा करनेकी प्रवृत्ति स्वभावतः होती है। वे सोचते हैं बस हो निपटका तो समय है इसमें अधिकसे-अधिक सामग्री श्रोताओंको देनी चाहिए, पर ऐसा सोचना उचित नहीं। इस बातको भी याद रखना है कि मैताएके तारके दूसरे छोरपर बैठा हुआ श्रोता अपना रेडियो-सेट बन्द न कर दे या जो कुछ सुने भी उसका कुछ अंश भी उसे याद रहे। सभी अनुभवी प्रसारणकर्ता प्रसारण-सम्बन्धी इस महत्वपूर्ण बातको समझते हैं और इस

पर बोर देते हैं। बैनेट सरफका कथन है—'आपकी प्रवृत्ति बहुत अधिक तथ्योंको भर देनेकी होती है वार्तामें इतनी सूचनाएँ भर देनेको कि उसका दम घुटने-घुटने हो जाय। कुछ नमूनेकी शिक्षा देनेकी अपने ज्ञान को दूसरोंके साथ बाँट लेनेकी यह उपदेशात्मक प्रवृत्ति है। अपनेमें यह बड़ी अच्छी प्रवृत्ति है लेकिन इसे कठिनतम अनुशासन चाहिए, नहीं तो इसकी प्रेरणासे ऐसा प्रसारण होता है, जो श्रोताके सिर बोझ कर देता है। जॉन एस० फार्लीक कहते हैं—'एक ही वाक्यमें बहुत-से विचारोंका आना उलझन पैदा करनेवाला होता है। थोड़े-से समयमें आप बहुत-सी बातों-के बारेमें अच्छी तरह बातचीत नहीं कर सकते। अपने मिनटों और सेकेण्डों में भीड़ मत लगाइए।' और, पैमफ्लिनके शब्दोंमें 'बी० बी० सी० की श्रोता-अनुसन्धान-समितिको नियमित रूपसे अपनी रिपोर्ट भेजनेवाले सम-भग हमेशा ही यह विचार प्रकट करते हैं कि अमुक वार्ताकारने प्रसारणके लिए निश्चित समयमें बहुत अधिक बातें कहनेका प्रयत्न किया।' वार्ता कारको इन सभी अनुभवी लोगोंके विचारको वार्ता लिखते समय अवश्य ही स्मरण रखना चाहिए।

यहाँ अनुभवी विद्वानोंने यह कहा कि रेडियो-वार्तामें बातोंकी भीड़ न लगायी जाय कुछ ही तथ्य साफ एवं प्रभावोत्पादक ढंगसे रखे जायें वहाँ यह भी कहा कि वार्तामें आयी मुख्य बातोंको कुछ-कुछ अन्तरपर व्यक्त किया जाय। हर तथ्यके साथ उसकी पर्याप्त व्याख्या होनी चाहिए। अनेक तथ्योंको एक ही साथ गिना देना उचित नहीं है। इससे वार्ताको ग्रहण करनेमें भी श्रोताको कठिनाई होगी और उन्हें स्मरण रखना तो असम्भव होगा ही। यहीं एक बात यह भी कह दी जाय कि वार्तामें कोई ऐसा स्थल या ऐसा तथ्य नहीं आना चाहिए, जिसको समझनेके लिए आगे या पीछेके संकेतोंको फिरसे देखनेकी जरूरत हो। मुद्रित सामग्रीका पाठक आगे या पीछेके अंशोंको आवश्यकतानुसार फिरसे देख सकता है रेडियोका श्रोता ऐसा नहीं कर सकता, इसकी चर्चा पहले हो चुकी है। रेडियो-श्रोताकी इस

सीमाको ध्यानमें रखना आवश्यक है। उदाहरणार्थ यदि वार्त्ताकार कहे कि 'अरबोंने चीन भारत और यूनानसे क्रमशः कागज और प्रेस चिकित्सा और साहित्य तथा दर्शन और विज्ञान प्राप्त किये तो श्रोताके लिए यह समझना कठिन होगा कि किन विषयोंका सम्बन्ध किन देशोंसे है। पाठक इसे सरलतासे समझ लेगा। वार्त्ताकारको देशों और विषयोंको अलग-अलग करके समझाना होगा।

स्मरण-शक्तिसे सबसे अधिक शत्रुता तो बड़ी-बड़ी संख्याओंसे होती है। उन्हें स्मरण रखना बहुत ही कठिन होता है। प्रसिद्ध लेखक मार्क ट्वेन कहते हैं कि 'संख्याएँ बहुत ही एकरस और अनाकर्षक होती हैं और वे टिकती नहीं। उन्हें आकर्षक और स्मृतिमें टिकने योग्य बनानेके अनेक उपाय हैं जिनके उल्लेख पहले आय है और कई उदाहरण भी दिये गये हैं। इनके सम्बन्धमें अबरका यह विचार ध्यानमें रखना चाहिए—'अगर आप श्रोताको आँकड़े देते हैं तो उन्हें मापनेके लिए मापदण्ड भी दीजिए। पहले जैसा कहा गया है, श्रोताके लिए सत्तर लाख और सत्तर लाखमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। अगर उन्हें प्रति व्यक्ति प्रति घण्टा प्रति दिन आदि की छोटी इकाइयोंमें परिवर्तित कर दिया जाय तो उनका महत्त्व भी ज्ञात होगा और वे संख्याएँ याद भी रह सकेंगी।

वार्त्ताका रूप-संगठन भी स्मरण-शक्तिसे सम्बन्ध रखता है। श्रोता वार्त्ताको सुनता भी जाता है और उसे भूलता भी जाता है यह हम देख चुके हैं। वार्त्ताकी समाप्तिपर सामान्य श्रोताके लिए उसके प्रारम्भ और विकासके सम्बन्धमें निश्चित रूपसे कुछ कह सकना सम्भव नहीं होता। वार्त्ता-रचना श्रोताकी इस सीमाको देखते हुए किस प्रकारकी हो यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। प्रोफ़ेसर जेम्सने कहा है—'हमारा मस्तिष्क मुख्यतः एक सम्बद्ध करनेवाला यन्त्र है। लेकिन इस सम्बद्ध करनेवाले यन्त्र को उन्हीं वस्तुओंसे अधिक सहायता मिल सकती है, जो स्वयं परस्पर सम्बद्ध हों जिनकी कड़ियाँ एक-दूसरीसे अच्छी तरह जुड़ी हुई हों। अगर हम कोई

सुसंगठित कहानी सुनते हैं तो उसे स्मरण रख पाते हैं। क्यों? बैरेन हमबर इसका उत्तर देते हैं—'आप कहानीके साथ चल रहे हैं—आपने एक क्षण पहले जो सुना, उसको इस क्षण आप जो सुन रहे हैं उसके साथ जोड़ते हुए। जहाँतक आपका सम्बन्ध है, यह सम्बन्ध-स्थापन ही अर्थपूर्ति करता है। इसके विपरीत हम कोई मनोवैज्ञानिक कहानी ले सकते हैं जिसमें सब कुछ आप-ही-आप है, केवल चेतना प्रवाह, एक वस्तुका दूसरी वस्तुसे कोई सम्बन्ध नहीं। वैसी कहानी मस्तिष्कमें टिकती नहीं उसका प्रभाव मात्र शेष रह जाता है। इसी प्रकार विचारोंकी अस्त-व्यस्ततापर निर्मित वार्त्ता स्मृतिके लिए अनुपयुक्त होती है। वार्त्तामें विचारोंका शृंखलाबद्ध रहना आवश्यक है। तर्क-सम्मत कारण-कार्य-सम्बन्धोंपर आधारित वार्त्ता ही सफल वार्त्ता कही जा सकती है। हमबरके ही शब्दोंमें—'अगर आप अपने विचारोंको प्रेषणीय बनाना चाहते हैं, तो बड़ी सावधानीसे उन्हें सुनिश्चित क्रममें रखिए, जिससे उन्हें पहली बार सुननेपर ही उनका केवल समझना ही आसान न हो बल्कि याद रखना भी सम्भव हो।

अन्तमें यह कहा जा सकता है कि कोई वार्त्ता अपने अपेक्षित श्रोताओंके पास पहुँच सके इसके लिए आवश्यक है कि वह सरल एवं स्पष्ट हो उसमें बातोंको घुमा-फिराकर न कहकर सीधे प्रत्यक्ष ढंगसे कहा जाय, कठिन तथ्योंको विभिन्न उपाख्यानियोंमें व्यक्त किया जाय टेक्नीकल या शास्त्रीय शब्द बिलकुल न हों हों भी तो उनकी पर्याप्त व्याख्या की जाय आँकड़ोंसे बचा जाय और, उनके बिना काम न चलनेवाला हो तो उन्हें छोटी इकाइयोंमें आकर्षक रूपमें उपस्थित किया जाय तथ्योंकी भरमार न की जाय और रोचकता एवं सुसम्बद्धतापर विशेष ध्यान दिया जाय। श्रोताकी स्मृतिको सहायता देनेका एक उपाय यह भी है कि तथ्यप्रधान वार्त्ताओंके अन्तमें वार्त्ताकी मुख्य बातोंका सारांश दे दिया जाय जैसा अभी किया गया।

रेडियो-वार्ता और व्यक्तित्वका प्रश्न

बी० बी० सी०के कुछ प्रसिद्ध सफल रेडियो-वार्ताकारोंके नाम हैं जे० बी० प्रीस्टली ए० जे० एअर सी० एच० मिडिल्टन एलिस्टेयर कूक और जान हिल्टन। इनके सम्बन्धमें एल्कन एण्ड डोरोथियन एल्कनका विचार है कि इनकी सबसे बड़ी विशेषता जो इन्हें दूसरे सामान्य वार्ताकारोंसे पृथक करती है, अपने श्रोताओं और अपने बीचकी दूरीको मिटाने की है। इनकी वार्ताएँ सुनते समय श्रोता यह नहीं अनुभव करते कि वार्ताकार उनसे कहीं दूर है। इसका कारण यही कहा जा सकता है कि इन वार्ताकारोंने रेडियोके माध्यमकी सूक्ष्म अपेक्षाओंको भी बड़ी गहराईसे समझा है और उनके अनुरूप कार्य किया है। रेडियो-माध्यमकी सबसे बड़ी विशेषता आत्मीयता है। सचमुच रेडियो-जैसा आत्मीय माध्यम हमारे युगमें दूसरा नहीं है। यहाँ आत्मीयताका व्यवहार किसी विशेष अर्थमें नहीं हो रहा है आत्मीयताका सीधा-सा अर्थ मैत्री और स्नेह-सम्बन्ध का ही लिया जा रहा है। जब हम अपने पास बैठे दो-तीन मित्रोंसे बातें करने लगते हैं हमारे बीचकी दूरी मिट जाती है, हम सभी आत्मीयताका अनुभव करने लगते हैं। सफल रेडियो-प्रसारण भी इस प्रकारका अनुभव करा सकता है। इस सम्बन्धमें सिप्रोमेल्ड पैमकिनका कथन है कि वास्तवमें प्रत्येक प्रसारण एक आत्मीय अनुभव है जिसमें प्रसारणकर्ता [एक व्यक्ति हो या सौ हों] और एकाकी श्रोता [अलग-अलग बैठे हुए लाखों

व्यक्तियोंमें-से एक] सहभोक्ता होते हैं। मैं समझता हूँ यह बात सबसे अधिक रेडियो-वार्ताके लिए ही सही है। दूसरे माध्यमोंके साथ रेडियोकी तुलना करनेपर इसकी सत्यता स्वतः स्पष्ट हो जायगी।

मुद्रण यन्त्रके माध्यमसे हम रेडियोकी तुलना कई दृष्टियोंसे कर आये हैं एक और दृष्टिसे फिर देखें। लेखकको जो कुछ कहना होता है, वह लिख देता है उसका कथ्य मुद्रित होकर पाठकोंके पास पहुँचता है। इसका अर्थ यह हुआ कि लेखक अपने पाठकोंके सामने प्रत्यक्ष रूपसे नहीं आता, पाठक लेखकके व्यक्तित्वके प्रत्यक्ष सम्पर्कमें नहीं आता। रेडियो-वार्तामें ऐसी बात नहीं होती यहाँ वार्ताकार प्रत्यक्ष रूपसे अपने श्रोताओंके सामने अपने विचार प्रकट करता है उसका व्यक्तित्व श्रोताओंके प्रत्यक्ष सम्पर्कमें रहता है। रेडियो-वार्ताके स्वरूपपर इसका क्या प्रभाव पड़ता है, या पड़ना चाहिए, इसपर विचार करनेके पहले रेडियोकी तुलना सामूहिक प्रेषणीयताके दूसरे उपलब्ध माध्यमोंसे कर लेना उचित होगा। एक माध्यम है प्लेटफार्म यानी प्रत्यक्ष भाषण। प्रत्यक्ष भाषणमें वक्ता अवश्य ही अपने दर्शकों-श्रोताओंके सम्मुख उपस्थित रहता है, पर यहाँ वह व्यक्तियोंसे बातें नहीं करता समूहसे बातें करता है। प्लेटफार्मसे अलग-अलग व्यक्तियों-से बातें करना सम्भव है ही नहीं। यहाँ एक व्यक्ति एक बड़े समूहके सम्पर्कमें आता है फलतः व्यक्ति-व्यक्तिके बीच जो आत्मीय सम्बन्ध होना चाहिए, वह नहीं होता। रेडियो-वार्तामें एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिसे ही बातें करता है, यह दूसरी बात है कि वह दूसरा व्यक्ति अलग-अलग बैठे हुए हजारों व्यक्तियोंका अंग है। यहाँ व्यक्ति-व्यक्तिके बीच होनेवाली आत्मीयता सम्भव है। सामूहिक प्रेषणीयताका तीसरा माध्यम है टेलिविजन। टेलिविजनमें भी वक्ता अपने दर्शकों-श्रोताओंके सामने प्रत्यक्ष रूपसे रहता है। यहाँ दर्शक वक्ताको अपनी आँखोंके सामने चित्रमें देखते रहते हैं। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि चित्रमें रहना ही दूरीकी व्यंजना करता रहता है। फिल्म देखते समय हम प्रायः ही अनुभव करते रहते हैं कि

चित्रमें आनेवाले व्यक्ति हमसे दूर हैं। फलतः उनसे आत्मीयताका अनुभव नहीं किया जा सकता। रेडियो-वार्तामें वक्ताकी केवल आवाज ही श्रोताओं-के पास पहुँचती है, और यदि वार्ताकार प्रतिभा-सम्पन्न एवं अपनी कलामें कुशल है, तो वह अपनी वाणीसे श्रोताओंको उनके निकट ही अपनी उपस्थितिका अनुभव करा सकता है। कभी-कभी हम अपनी आँखें बन्द किये आरामसे बैठकर अपने सम्मुख उपस्थित मित्रोंकी बातें सुना करते हैं। वार्ताकारकी सफलता श्रोताओंको ऐसा अनुभव करा देनेमें ही है। बी० बी० सी० के एक प्रसिद्ध प्रसारणकर्त्ताका नाम है मैक्डिम्मार्ड। युद्ध कालमें वह मध्य रात्रिका समाचार एडिनबर्गकी कुछ नर्सोंके लिए प्रसारित किया करता था। इस प्रसारणके समय उसकी आवाज साधारण आवाजकी अपेक्षा काफी धीमी होती थी क्योंकि वह नर्सोंसे भरे अस्पतालमें समाचार सुनाता था। उसके इस प्रसारणकी काफी प्रशंसा थी। वार्ताकार-श्रोताके बीच जिस आत्मीयताकी अपेक्षा होती है, उसे स्थापित करनेमें वह सफल रहता था।

अब तक यह स्पष्ट हो गया होगा कि रेडियोका माध्यम प्रेषणीयताके सभी माध्यमोंसे अपना पृथक् अस्तित्व रखता है। इसकी अपनी विशेषताएँ हैं। इसमें व्यक्ति-व्यक्तिके बीचका सजीव सम्बन्ध रहता है। बेतारका तार सचमुच दो सजीव तारोंको मिलानेवाला होता है। इसमें एक व्यक्ति बोलता है ऐसा मनुष्य जो मशीन नहीं है, ग्रामोफोनका रिकार्ड नहीं है, टेलिविजन या फिल्मोंका चित्र नहीं है, बल्कि एक सजीव प्राणी है। यहीं वार्ताकारके व्यक्तित्वका प्रश्न आता है।

रेडियो-वार्तामें व्यक्ति विशेष बोलता है, इसलिए व्यक्तित्वका प्रश्न स्वाभाविक ही है। अनुभवी प्रसारणकर्ताओंने प्रसारणमें व्यक्तित्वको सबसे अधिक महत्त्व दिया है। लियोनेल फैमिलिनके शब्दोंमें—'इस सबसे नयी कलाकी सबसे बड़ी विशेषता है—व्यक्तित्व। माइक्रोफ़ोनके माध्यमसे व्यक्तित्वके कलात्मक प्रक्षेपणपर ही किसी प्रसारणकी प्रभावोत्पादकताका

जनता-विशेषका निर्भर है। अपनी पुस्तक 'ब्राडकास्टिंग' में हिल्डा मैथिसन-का कथन है— प्रसारणमें जिसका महत्त्व है, वह है जीवन-दृष्टि—यह प्रसारण चाहे मनोरंजनका हो, शिक्षाका हो, संगीतका हो, या और किसी दूसरे प्रकारके कार्यक्रमका हो। यह उन मानवीय प्राणियोंके बीच आत्मीय सम्बन्ध प्रदान करती है जो परस्पर प्रत्यक्ष सम्पर्कमें कभी नहीं भी आ सकते थे यह व्यक्तित्वके तत्त्वका पता देती है।

इसमें सन्देह नहीं कि रेडियो-वार्तामें वार्ताकारका व्यक्तित्व बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। पर यह व्यक्तित्व है क्या? जैसा कि जेम्स कार्लाईलने कहा है 'यह धुँधली और पकड़में न आनेवाली चीज है, धूपकी गन्धकी तरह ही यह विश्लेषणसे परे हो जाती है। यह व्यक्तिकी शारीरिक आत्मिक मानसिक सभी विशेषताओंकी समष्टि है उसकी शारीरिक विशेषताएँ, उसकी इच्छाएँ, उसकी प्रवृत्तियाँ उसका स्वभाव उसकी मानसिक दृष्टि उसकी रुचि उसका अनुभव उसका प्रशिक्षण उसका जीवन, सब कुछ। सब मिलाकर व्यक्ति विशेषका व्यक्तित्व बनता है। प्रत्येक व्यक्तिका अपना व्यक्तित्व होता है उसकी अपनी विशेषताएँ होती हैं। जैसे हर आदमीका चेहरा अपनी तरहका होता है, वैसे ही हर व्यक्तिका अपना व्यक्तित्व होता है। प्रसिद्ध चिन्तक एमर्सनने सत्य ही कहा है 'प्रत्येक व्यक्तिके स्वभावकी अपनी सुन्दरता होती है। अपने दैनिक जीवनमें इसका अनुभव हम करते रहते हैं सबका अपना सोचनेका ढंग है बोलने और बातें करनेका ढंग है चलनेका ढंग है। हाँ आजके युगमें ऐसे अनेक उपकरण आ गये हैं, जो व्यक्तियोंकी अपनी-अपनी विशेषताओंको मिटाकर उन्हें एक सामान्य साँचेमें ढालनेका प्रयत्न करते हैं। उन उपकरणोंकी विस्तृत चर्चा करना यहाँ अप्रासंगिक होगा। यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि आधुनिक युगमें, जहाँ व्यक्तियोंकी विशिष्टताएँ धीरे-धीरे मिट रही हैं वहाँ अगर हम किसीके जीवनमें कोई विशिष्टता देखते हैं तो उससे प्रभावित होते हैं। इन विशिष्टताओंका महत्त्व है। इन्हें ही हम मनुष्यकी वैयक्तिकता कहते हैं।

चूंकि रेडियो-वार्तामें व्यक्ति ही बोलता है, जैसा कि हम देख चुके हैं, उसमें वैयक्तिकताकी अभिव्यक्ति निश्चित रूपसे होनी चाहिए। मैनट ग्लवर कहते हैं, 'प्रसारणमें सम्भवतः सबसे बड़ी चीज वैयक्तिकता ही है।

रेडियो-वार्तामें वैयक्तिकताकी अभिव्यक्ति इस प्रकारसे हो कि श्रोता भी लखे कि यह वार्ताकार कोई भी उमेश या महेश नहीं हो सकता, यह विशेष व्यक्ति है, जो अपने अनुभवों और विचारोंको उसके पास पहुँचा रहा है। इसमें सोचनेका अपना ढंग है, अभिव्यक्तिकी अपनी शैली है, जीवनके अपने अनुभव हैं। इस दृष्टिसे देखनेपर ज्ञात होगा कि रेडियो-वार्ता कला और साहित्यसे भिन्न नहीं है यह भी एक विशेष प्रकारका साहित्य है। साहित्य होता क्या है? प्रसिद्ध कैंप लेखक अर्नेस्ट रिम्मट उत्तर देंगे— मैं कहता हूँ साहित्य आत्माभिव्यक्ति है और आत्माभिव्यक्ति वैयक्तिकता है।' अपनी विशिष्टताको खोज निकालना अपनी विशेष दृष्टिसे किसी वस्तुको देखना और उसे अपने विशेष प्रकारसे अभिव्यक्त करना ही तो साहित्य है। रेडियो-वार्ता भी साहित्य ही है, और इसकी विशेषता भी वैयक्तिकताकी अभिव्यक्तिमें है।

इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मुद्रित साहित्यका लेखक जहाँ पूर्णतः वस्तुनिष्ठ हो सकता है, वहाँ रेडियो-वार्ताकारको आत्मनिष्ठ रहना पड़ेगा। यह आत्मपरकता ही उसकी विशेषता है। रेडियोका श्रोता वस्तुमें उतनी रुचि नहीं रखता जितनी वार्ताकारमें। वस्तु तो उसे कहीं भी मिल जा सकती है लेकिन वार्ताकारकी जीवन-दृष्टि जिसकी ओर हमने व्यक्तिगत संकेत किया है वो वार्ताकारसे ही मिल सकती है। रेडियोका श्रोता रेडियोपर केवल वही वस्तु प्राप्त करना चाहेगा जो उसे अन्यत्र नहीं मिल सकती। वार्ताकार यदि 'झीलोंके देश कनाडा' पर वार्ता दे रहा है, तो कनाडाका भौगोलिक, ऐतिहासिक सांस्कृतिक और राजनीतिक परिचय तो आपको कुछ पुस्तकोंके पन्ने उलटनेपर सहज ही मिल जा सकता है। रेडियोपर इनके परिचयके प्रसारण एवं श्रवणकी सार्थकता

क्या है ? श्रोता तो वार्त्ताकारसे यह जानना चाहेगा कि उसने कलाकारमें क्या देखा क्या अनुभव किया। दूसरे शब्दोंमें श्रोता वार्त्ताकारकी आँखोंसे कलाकारको देखना चाहेगा। यह वस्तु उसे वार्त्ताकारको छोड़कर और किसीसे नहीं मिल सकती। इसी प्रकार यदि वार्त्ताकार पंचवर्षीय योजनामें प्रयोगोंकी प्रगतिपर वार्त्ता दे रहा है तो प्रगतिका परिचय तो सरकार द्वारा प्रकाशित एवं प्रचारित विज्ञप्तियोंमें श्रोता सरलतासे उपलब्ध कर सकता है, वह तो प्रयोगोंके विकासका परिचय वार्त्ताकारकी दृष्टिसे प्राप्त करना चाहेगा यह दूसरी बात है कि वार्त्ताकारको यह परिचय आकाशवाणीकी नीतिकी सीमाओंके भीतरसे ही देना होगा। यहाँ वीमेंट उलवरको हम फिर उद्धृत करना चाहेंगे— अच्छी वार्त्ताके सम्बन्धमें ध्यान देनेकी बात यह है कि वह तटस्थ और सीधा-सादा विवरण प्रस्तुत करना नहीं है, वार्त्ताकारकी वैयक्तिकता अवश्य अभिव्यक्त होनी चाहिए। सचमुच रेडियोपर वार्त्ता प्रसारित करनेकी सार्थकता इसी बातमें है। यथातथ्य घटनाओंपर आधारित आलेख-रूपकोंकी चर्चा करते हुए एक स्थानपर लुई मैकनीसने कहा है कि रेडियो-कलाकार केवल कैमरामैन या रिपोर्टर नहीं है वह इससे कुछ अधिक है, कलाकार है। यही बात रेडियो-वार्त्ताके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। रेडियो-वार्त्ताकार पुस्तकोंसे कुछ पन्ने निकालकर केवल पढ़ भर नहीं देता इधर-उधरसे संकलित सामग्री रेडियोपर केवल प्रसारित भर नहीं कर देता वह आत्माभिव्यक्ति करता है, अपनी जीवन दृष्टिसे श्रोताओंको परिचित कराता है साहित्यकारका काम करता है।

यह साधारण काम नहीं है। साहित्य-सृजनके लिए साहित्यकारकी जिस साधना और कल्पनाकी अपेक्षा होती है उससे कम अपेक्षा रेडियो-वार्त्ताकारकी नहीं है। जैसा कि मैकनिस कहते हैं 'श्रोताओंके साथ मौलिक आत्मीयता बनाये रखनेके लिए कल्पना और कलात्मकताकी अपेक्षा है।' रेडियो-वार्त्तामें वैयक्तिकताकी अभिव्यक्तिके लिए अपेक्षित साधना और श्रमकी ओर वार्त्ताकारोंका ध्यान जाना चाहिए।

यहाँ जो कुछ कहा गया उससे यह न समझा जाय कि रेडियो-वार्त्ता केवल आत्मनिष्ठ ही हो सकती है, वस्तुपरक एवं तथ्य प्रधान नहीं। इस सम्बन्धमें आगे दूसरे अध्यायमें विचार किया जायगा यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि वार्त्ताएँ तथ्य-प्रधान भी होती हैं और हो सकती हैं, पर उनमें भी वार्त्ताकारके व्यक्तित्वकी झाँकी तो मिलनी ही चाहिए, और किसी रूपमें न हो सके तो तथ्योंके प्रस्तुतीकरणमें ही।

श्रोताओंसे आत्मीयता स्थापित करनेके लिए वार्त्ताकारके व्यक्तित्वमें किन गुणोंकी अपेक्षा होती है इसपर भी विचार कर लेना चाहिए। एल्फ्रन एण्ड डोरोथियन एब्सके अनुसार, सफल प्रसारणकी मौलिक अपेक्षा है सचाई। इसका अर्थ यही है कि वार्त्ताकार अपनेको बिलकुल सच्चे रूपमें प्रकट करे यह अपने श्रोताओंसे दुराव न रखे। जैसा अभी पहले कहा गया है, रेडियो-वार्त्ताकार भी साहित्यकार है और साहित्यकारकी सबसे बड़ी विशेषताके बारेमें आचार्य विनोबा भावे कहते हैं—'साहित्यिकोंमें एक मूल-भूत गुण होना चाहिए। उसके बिना कोई साहित्यिक नहीं हो सकता। वह है सिन्सेरिटी यानी सचाई। और गुण हों या न हों साहित्यिकको सच्चा होना ही चाहिए—वह सच्चा सत्पुरुष हो या सच्चा दुर्जन। सच्चा सत्पुरुष हो तो लेखनमें सुगन्ध आ जायेगी। लेकिन दुर्जन हो तो सच्चा दुर्जन हो। कूटनीतिज्ञ अक्सर अन्दरसे एक रहते और बाहरसे दूसरे दिखाई देते हैं। वे चाहें दुनियाको ठग लें परन्तु अपने-आपको ठग नहीं सकते। इसी लिए अपनेको प्रकट भी नहीं कर सकते। वार्त्ताकारको अपनेको प्रकट करना है—अपनेको यानी अपने पूर्ण व्यक्तित्वको जो कुछ वह है जो कुछ वह सोचता है, अनुभव करता है। इसीको अगवर कहते हैं 'मुझे लगता है, व्यक्तित्वका मूल तत्त्व है समग्रता अपने पूर्ण अर्थमें जो हममें वास्तवमें है, उसे खोजना और उसका सबसे अच्छे रूपमें उपयोग करना।

आत्मीयताके लिए दूसरा गुण यह अपेक्षित है कि वार्त्ताकारके मनमें अपने श्रोताओंके प्रति सद्भाव हो स्नेह हो। जॉन एस० कार्लाइलका पता

गया है 'अपने श्रोताओंके बारेमें सोचनकी आदत डालिए। जो वार्ताकार श्रोताओंके सम्बन्धमें आत्मीयताके साथ सोचेगा और उसे अपने शब्दों एवं वाणी द्वारा प्रकट करेगा उसके प्रति श्रोताओंका भी आकर्षण रहेगा इसमें सन्देह नहीं। 'ह दीप दीपसे जलता, है प्रेम प्रेमपर निर्भर'—कविकी इन पंक्तियोंमें पर्याप्त सत्य है।

इसके अतिरिक्त वार्ताकारके मनमें अपने श्रोताओंके प्रति आदर एवं सम्मानका भाव भी रहना आवश्यक है। वह इस प्रकार बातें करे कि श्रोताओंको अपनी हीनताका अनुभव न हो। हम जानते हैं कि कोई भी मनुष्य स्वभावतः अपनेको हीन नहीं समझता अच्छा भी अपनेको अच्छा कहा जानेपर बुरा मानता है। इसीलिए पारस्परिक व्यवहारमें उपदेशा रमकको प्रवृत्ति बहुत घातक समझी जाती है। आजकलने ठीक ही कहा है—'परामर्शका स्वागत शायद ही कभी होता है। जिन्हें सबसे अधिक इसकी आवश्यकता होती है व इसे सबसे कम चाहते हैं। सचमुच मैं जो जानता हूँ आप नहीं जानते की प्रवृत्ति रेडियो-श्रोताके मनमें वार्ताकारके प्रति आत्मीयताका भाव नहीं आने देगी। रेडियो-शिल्पके सभी अनुभवी व्यक्ति इस तथ्यको स्वीकार करते हैं। वैयक्तिक कहते हैं कि 'यह अनुभव कि वार्ताकार हमें हीन समझकर बातें कर रहा है श्रोताके मनमें क्षोभ ही ऐसी लघुताको जन्म देती है जिसका कोई उत्तर नहीं है। उदाहरणके लिए एक वार्ताका यह पहला वाक्य देखिए—

बच्चोंके व्यक्तित्वके बारेमें कुछ कहनेसे पहले मैं उन बहिनोंके सन्देह को हटा देना चाहती हूँ जो यह सोचती हों कि बच्चोंका भी क्या कोई व्यक्तित्व होता है।

इसका प्रभाव सुननेवाली बहनोंपर क्या पड़ेगा? वे कहेंगी—ये अपनेको बहुत समझती है। इससे वार्ताकार और श्रोताओंके बीच आत्मीय सम्बन्ध नहीं स्थापित हो सकता। एक दूसरी वार्ताकी पु पंक्तियाँ देखिए—

मैं इस तरहके अनेक उदाहरण दे सकता हूँ। इनके द्वारा मैं यही समझाना चाहता हूँ कि शरीरमें ग्रन्थियों या और मांसपेशियोंकी क्रिया प्रतिक्रिया या इन्हींसे ही एक प्रकारकी स्थिरता पैदा होती है।

वार्ताकार कुछ ही देर बाद फिर कहते हैं—

मैं अधिक-से-अधिक आपको यह समझा सकता हूँ कि जितना आप समझते हैं जीवन उससे कहीं पेचीदा या आश्चर्यपूर्ण है।

इसके सम्बन्धमें कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं। हाँ वार्ताकारको इस प्रवृत्तिसे बचना अवश्य है। उसे यह नहीं समझना है कि वह श्रोताओं-से ऊपर, किसी उच्च आसनपर प्रतिष्ठित है। उसे अपनेको श्रोताओंके सामान्य धरातलपर ही रखना है। पहले कहा जा चुका है कि वार्ताकार को अपने श्रोताओंमें अधिक ज्ञानका अनुमान नहीं कर लेना चाहिए, इसका यह अर्थ नहीं कि श्रोताओंको ज्ञानहीन ही समझ लेना चाहिए। श्रोताओंके मनमें वार्ताकारकी वाणीसे ऐसी भावना कभी नहीं आनी चाहिए कि श्रोता अपनेको श्रेष्ठ समझता है। जे० बी० प्रीस्टलीके सफल रेडियो-वार्ता-प्रसारणके सम्बन्धमें एक रेडियो विशेषज्ञ यही कहता है कि 'मालूम होता है उनमें अपने श्रोताओंके प्रति आदर-भाव है, न वे उन्हें हीन समझकर ही बातें करते हैं न उनमें बहुत अधिक ज्ञानका अनुमान ही करते।

रेडियो-वार्त्तासे सम्बन्धित तीन प्रश्न

प्रश्न प्रारम्भ करनेके पहले अपने आकाशवाणीके जीवनका एक अनुभव प्रस्तुत करनेकी इच्छा होती है। इस अनुभवका सम्बन्ध जानी एक ऐसी घटनासे है जिसे मैं आकाशवाणीमें रहता, तो शायद नहीं कहता। रातको ७॥ बजे एक वार्त्ता होनेवाली थी विषय था 'महान् क्रान्तिकारी चिन्तक आइन्स्टाइन'। सन्ध्याके ६ बज गये, पर वार्त्ताकारने अपना आलेख मेरे पास नहीं भेजा। मैंने वार्त्ताकारको फोन किया तो दूसरे छोरसे आवाज आयी—'आज दिनभर मैं बहुत व्यस्त रहा वार्त्ता लिखनेकी फुरसत ही नहीं मिली। अभी वही वार्त्ता स्टेनोको लिखवा रहा हूँ। वार्त्ताका समय आधा घण्टा बढ़ा दीजिए, तो बड़ी कृपा होगी। आठ बजे तक वार्त्ता टाइप होकर तैयार हो जायेगी।' वार्त्ताकारको आकाशवाणीसे पहली बार वार्त्ता प्रसारित करनी थी इसीलिए ऐसा कह रहे थे। मैंने कहा—'आप तो जानते हैं यहाँका समय बिल्कुल निश्चित रहता है एक मिनट भी इधर उधर नहीं होता। और, यह वार्त्ता तो किसी तरह ७॥ बजे होनी ही है—प्रोग्राम-पत्रिका 'आकाशवाणी' में छपी हुई है।' उत्तर आया—'अच्छी बात है, मैं कोशिश करता हूँ।' टेलीफोन रखकर मैं अपनी कुर्सीपर पश्ताने लगा कि मैंने वार्त्ताका आलेख कुछ दिन पहले ही क्यों नहीं मँगा लिया। आलेखको समयसे मँगा लेना मेरा काम था। यों वार्त्ता प्रसारित करनेके लिए या आमन्त्रण-पत्र [जिसे अनुबन्ध-पत्र कहा जाता है] वार्त्ता-

कारोंके पास भेजा जाता है, उसमें यह प्रार्थना रहती है कि आलेख निश्चित प्रसारण-तिथिसे दस दिन पहले आकाशवाणी केन्द्रमें आ जाना चाहिए, पर ऐसी कृपा कम वार्ताकार करते हैं। मैंने उस दिन अपने स्टेशनके अधिकारियोंसे भी यह नहीं कहा था कि आपकी वार्ताका आलेख अभी तक मेरे पास नहीं आया है, फलतः कार्यक्रमके प्रसारणका पूरा उत्तरदायित्व मेरा था। सात बजकर दस मिनट हो गये मुझे कोई सूचना नहीं मिली। मैंने फिर फोन किया तो उत्तर मिला—'मैंने डिक्टेशन तो दे दिया है पर वार्ता अभी टाइप नहीं हुई है अब पूरा ही हो रहा है।' मैंने कहा—७॥ बजनेमें बहुत देर नहीं है, किसी तरह आपको यहाँ ७॥ बजेके पहले आ जाना है। 'तो जितना टाइप हुआ है, उतना लेकर मैं आता हूँ।'—वार्ताकारने टेलीफोन रख दिया। घड़ीकी सुईके साथ मेरे हृदयकी धड़कन बढ़ती जा रही थी। मैंने वार्ताका एनाउंसमेंट लिखकर एनाउंसरको दे दिया स्वयं दरवाजेपर जाकर वार्ताकारकी प्रतीक्षा करने लगा। ७ बजकर २० मिनट वार्ताकारका पता नहीं २८ मिनटपर वे उपस्थित हुए। मैंने कहा—'लाइए जितनी स्क्रिप्ट है, उतनी देख लूँ।' स्क्रिप्ट तो बिल्कुल नहीं है, अभी टाइप ही नहीं हो सकी।' मैंने घबराकर पूछा—'तब कैसे होगा ?' 'आप चलिए, मैं बोल दूँगा दस मिनटका बोलना क्या है।' मेरे मुँहसे निकला—'लेकिन यहाँ बिना स्क्रिप्टके कोई वार्ता नहीं प्रसारित होती कहीं कुछ गड़बड़ हो जाय।' 'आप मुझपर विश्वास रखिए, मैंने १४ वर्षों तक कालेजमें पढ़ाया है, बोलने हीका तो पेशा है।'—वार्ताकारने कहा। मेरी आँखोंके सामने अभी एक महीने पहले वार्ता प्रसारित करनेवाले एक सज्जनकी तसवीर नाच गयी। वे भी कालेजमें प्राध्यापक हैं दस-बारह वर्षोंसे पढ़ा रहे हैं, अपनी लिखित वार्ता प्रसारित करने लगे तो पढ़ते उनकी आवाज लड़खड़ा रही थी अपनी बड़ी-सी वार्ता भी उन्होंने समयसे दो मिनट पहले ही खत्म कर दी थी। लेकिन यहाँ मुझे सोचनेका समय नहीं था मैं उन्हें स्टूडियोकी तरफ

ले चला। रास्तेमें कहता गया—'याद रखिएगा कि आपकी वार्ताका प्रभाव मुझपर भी पड़ सकता है।' मैंने उन्हें स्टूडियोमें माइक्रोफोनके सामने बैठा दिया और बतला दिया कि सामनेकी लाल बत्ती जलनेपर वे वार्ता प्रारम्भ करेंगे। ७॥ बजे दूसरे स्टूडियोसे एनाउंसरने कहा—'यह आकाशवाणी पटना है। महान् क्रान्तिकारी चिन्तक—इस वार्ताक्रममें आज .... 'आइन्स्टाइनके सम्बन्धमें एक वार्ता प्रसारित कर रहे हैं। श्री... ... ...।' मेरा हृदय धड़क रहा था—'कहीं कुछ गड़बड़ी न हो जाय। कहीं वह बोलते-बोलते एकाएक बीचमें ही न रुक जाय। कहीं आकाशवाणीकी नीतिके विरुद्ध कोई विवादास्पद बात न कह दें। मुझे इसे बोलने नहीं देना चाहिए था।' पर वार्ताकारको लाल बत्ती मिल चुकी थी उन्होंने बोलना शुरू कर दिया था—बिल्कुल स्वाभाविक वार्ता सीधी-सादी भाषा नपे-तुले वाक्य सन्तुलित विचार। मैं तो दंग रह गया। दूसरे दिन लोगोंने कहा—'बहुत दिनोंके बाद अच्छी वार्ता सुननेको मिली।' मैं सोचता हूँ क्या वह वार्ता इसीलिए सफल हो सकी कि वार्ता-कारके पास वार्ताका आलेख नहीं था? रेडियो-वार्ता-सम्बन्धी यही पहला प्रश्न है—क्या यह आवश्यक है कि वार्ता लिखी जाय उसका लिखित आलेख हो?

वार्ता तो बातचीत है वार्ताकारकी मौखिक अभिव्यक्ति। वार्ताका वार्ता प्रसारित करते समय आलेख सामने रखकर भी श्रोताओंको यह आभास देना चाहता है कि वह कोई लिखित रचना पढ़ नहीं रहा है बल्कि अपने श्रोताओंसे बातें कर रहा है। ऐसी स्थितिमें वार्ता लिखने क्या आवश्यकता है? लिखित वार्ताका परिणाम भी तो अच्छा नहीं होत उसमें मौखिक वार्ताकी स्वाभाविकता नहीं आ पाती है वार्ता कृत्रिम जाती है। इसीलिए पी० पी० एकरस्ले कहते हैं—'मैं सामान्य नियम ब कर पाण्डुलिपिसे वार्ता-पाठका निषेध कर दूँगा। यह नियम कुछ विशि सामाजिक समारोहों परिसंवादोंमें चलता है और इससे लोग कामा

होते हैं। नोट्सकी सहायता तब तक लेने दी जाएगी जब तक वे विचारों-को क्रमबद्ध रखनेमें सहायक हों और प्रेरणा और सहजताकी हत्या न करें। एस्मन एण्ड योरोपियन एलनका कथन है—हाउस ऑफ कामन्स का यह नियम कि लिखित भाषण न दिये जायें केवल नोट्ससे सहायता ली जाय कुछ शिक्षित संस्थाओं द्वारा माना जाता है और बी० बी० सी० द्वारा भी इसका अनुकरण स्वच्छन्दतासे किया जा सकता है। यद्यपि वार्ताएँ हमेशा निश्चित समय-योजनामें अच्छी तरह नहीं बैठ सकेंगी और कुछ अधिकारियोंको भी अखरते हुए दुखसे उन्हें सुनना रहना पड़ेगा कि वार्ताकार बी० बी० सी० की नीतिके विरुद्ध न कुछ कह दें पर इससे लाभ बहुत अधिक होगा। रेडियोको उसका एक बड़ा उपहार वापस मिल जाएगा श्रोताओंको कार्यरत मस्तिष्ककी अभिव्यक्ति सुननेका अवसर मिलेगा और प्रसारणकर्ता अपनी सबसे बड़ी बाधा आलेखसे मुक्ति पा जाएगा।

बिना आलेखके सफल वार्ता प्रसारित करनेवाले व्यक्तियोंमें प्रेसीडेण्ट रूजवेल्टकी पत्नी एलिनार रूजवेल्टका नाम आता है जिनके सम्बन्धमें रोबेट डगबर कहते हैं—'मैत्रीपूर्ण अनौपचारिक व्यक्ति ज्ञानसे भरी उनकी वार्ता केवल अपनी विषय-वस्तुकी दृष्टिसे ही नहीं प्रसारण-शैलीकी दृष्टिसे भी प्रशंसनीय थी। उनका एक निश्चित क्रम होता था। वे व्यक्तिगत रूपसे प्रारम्भ करतीं अपना कथ्य शुरू करतीं उसका विकास करतीं एक निश्चित विचार लेकर उसे समेटतीं और स्वाभाविक समाप्ति पर आ जातीं। इसी प्रसंगमें वे आगे कहते हैं—'उनकी वार्ताका एक स्थापत्य होता एक निश्चित संघटन प्रत्येक विचार अपने पूर्ववर्ती विचारोंसे तर्क-संगत रूपमें निकलता। उनके वाक्य घिसे-पिटे न होनेपर भी सरल होते।

यह सही है कि बिना आलेखके प्रसारित वार्तामें स्वाभाविकता और अकृत्रिमता रहेगी पर प्रश्न है कि ऐसे कुशल वार्ताकार कितने मिलेंगे? जिनकी लिखित वार्तामें ही कोई स्थापत्य नहीं होता उनकी मौखिक वार्ता

की क्या दशा होगी ? उनकी वार्तामें सब-कुछ बिखरा-बिखरा-सा रहेगा, उसमें कोई निश्चित प्रभाव डालनेकी शक्ति नहीं रहेगी। एडिमर क्लारेन्ट जैसे नामोंको अपवादमें ही गिनना चाहिए। जिस वार्ताकारकी चर्चा शुरूमें की गयी है, वे भी मैं समझता हूँ इसीलिए सफल हो सके कि वे अपनी वार्ता अपने स्टेनोको लिखवाकर आये थे फलतः उन्हें अपनी विषय-वस्तुके क्रमिक विकासका ज्ञान था।

दूसरी बात यह भी है कि मौखिक रूपसे वार्ता देनेमें वार्ताकार पर्याप्त सुनियोजित सामग्री भी नहीं दे सकेगा। बड़े-बड़े भाषणोंको सुनते समय हम यह अनुभव करते हैं कि इसमें आवृत्तियाँ अधिक हैं अप्रासंगिक बातें बहुत हैं। सामान्य वार्ताकारोंकी अलिखित वार्तामें भी यही बातें मिलेंगी।

तीसरी कठिनाई अवधि-सम्बन्धी है। रेडियोके कार्यक्रम निश्चित समयके बन्धनोंमें बँधे रहते हैं। वार्ताकारके लिए सचमुच यह कठिन समस्या है कि निश्चित अवधिमें अपनी वार्ता किस प्रकार समाप्त करे। यह तभी सम्भव हो सकता है, जब वार्ताकी सभी बातें निश्चित अनुपातमें रहें। इसके लिए जिस मानसिक अनुशासन एवं सन्तुलनकी अपेक्षा है उसे अर्जित करना सरल काम नहीं है, सभी ऐसा नहीं कर सकते।

चौथा प्रश्न प्रसारण-संस्थाकी नीतिका है। प्रत्येक प्रसारण-संस्थाकी अपनी नीति होती है अपनी सीमाएँ होती हैं। आकाशवाणीके साथ भी यही बात है। मौखिक वार्तामें यह खतरा हमेशा बना रहेगा कि वार्ताकार कहीं ऐसी बातें न कह दे जिन्हें हम नहीं चाहते।

और सबसे बड़ा खतरा तो वार्ताकारकी घबराहट और भयका है। बहुत ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्हें माइक्रोफोनके सामने घबराहटका अनुभव होने लगता है। मैंने स्वयं ऐसे लोगोंको देखा है, जिन्हें स्टूडियोमें बोलते-बोलते पसीना हो आया है। ऐसे व्यक्तियोंसे मौखिक वार्ता करानेका अर्थ है उनके सम्मान और अपने कार्यक्रमको खतरेमें डालना।

इन सभी बातोंको देखते हुए वार्ताके लिए आलेखकी आवश्यकताको

सहज ही समझा जा सकता है। डनबर-जैसे प्रसारणकर्ता एवं विशेषज्ञ बोलनेको आवश्यक मानते हैं।

अब हम दूसरे प्रश्नपर आयें। आकाशवाणी केन्द्रोंसे बहुधा यह सुना जाता है—'अभी' ‥ ‥ ‥को लिखी हुई वार्ता पढ़कर सुनायी गयी। तात्पर्य यह कि वार्ताका लेखक एक व्यक्ति और उसे पढ़नेवाला दूसरा व्यक्ति जो या तो कोई एनाउन्सर होता है या रेडियो स्टेशनका कोई कलाकार। विचारणीय यह है कि क्या एक व्यक्तिकी वार्ताको दूसरे किसीसे पढ़वा देना उचित है?

पहले हम यह देख लें कि ऐसा होता क्यों है? पहला कारण तो यह है कि वार्ताकार किसी आकस्मिक घटना या अस्वस्थताके कारण समयपर उपस्थित नहीं हो पाता। दूसरा कारण यह होता है कि आकाशवाणीके अधिकारी किसी वार्ताको महत्त्वपूर्ण समझते हैं और उसे विभिन्न केन्द्रोंसे स्थानीय एनाउन्सरों द्वारा पुनः प्रसारित कराते हैं। अंग्रेजी वार्ताओंके अनुवाद भी बहुधा इसी प्रकार प्रसारित कराये जाते हैं। तीसरा कारण हो सकता है—वार्ताकारकी शारीरिक असमर्थता। हो सकता है कोई विशेषज्ञ बोलनेमें असमर्थ हो अथवा उसकी बोलीमें हकलाहट आदिके दोष हों।

अब मूल प्रश्नपर विचार किया जाय। जैसा अबतक बार-बार कहा गया है, वार्ता लिखित होती हुई भी मौखिक समझी जाती है। वार्ताकार की सफलता इसी बातमें है कि वह श्रोताओंको अपनी लिखित रचनाका आभास भी न मिलने दे। अतः जब हम सुनते हैं—'अभी यह वार्ता पढ़कर सुनायी गयी' तो हमें लगता है जैसे वार्ता-प्रसारणकी कलाके मूलपर ही आघात किया जा रहा है।

एनाउन्सरकी यह सूचना कि 'वार्ता पढ़ी जा रही है' हमें स्पष्ट सूचित कर देती है कि वार्ताका आलेख भी है, और इससे वार्ताका आकर्षण कम हो जाता है। किसी सभामें वक्ताको अपना लिखित भाषण पढ़ते देखकर या नोट्सके सहारे बोलते देखकर हमारे मनमें क्या प्रतिक्रिया होती

है ? डेल कार्नेगी इसे प्रश्नोंमें अभिव्यक्त करते हैं—'क्या नोट्स आपमें आपका आकर्षण पचास प्रतिशत कम नहीं कर देते ? वक्ता और श्रोताके बीच जो आत्मीय और मूल्यवान् सम्बन्ध रहना चाहिए, क्या वे उसे रोक नहीं देते अथवा उसका बना रहना कठिन नहीं कर देते ? क्या वे कृत्रिमता का वातावरण नहीं उत्पन्न करते ? क्या वे दर्शकोंको यह अनुभव होनेसे नहीं रोकते कि वक्ताके पास जो विश्वास और शक्ति चाहिए, वह उसके पास है ? ठीक यही बातें लिखित वार्ताके पाठके सम्बन्धमें कही जा सकती है ।

यह जानकर कि वार्ता लिखित है, मनमें यह भाव भी आता है कि वार्ता अच्छी होगी, तो 'सारंग' 'प्रसारिका' या किसी पत्रमें ही छपेगी, और उसे वहीं पढ़ लिया जायगा । यह भाव भी वार्ताके आकर्षणको कम ही करता है ।

इस सम्बन्धमें सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कही जायगी कि रेडियो-वार्ता जैसा कि हम पहले देख चुके हैं कोई तटस्थ वस्तुनिष्ठ कृति नहीं है कि उसका पाठ कोई भी कर दे । उसका सम्बन्ध वार्ताकारके व्यक्तित्वसे होता है । एक व्यक्तिकी वार्ता जब दूसरा व्यक्ति पढ़ता है तो हम वार्ताकारके व्यक्तित्वके प्रत्यक्ष सम्पर्कमें आनेसे वंचित रह जाते हैं । इस सम्बन्धमें एक रेडियो-विशेषज्ञने प्रसिद्ध अभिनेता फ़िल्म डाइरेक्टर चार्ल्स ड्रेपरकी एक वार्ताका बड़ा मनोरंजक उदाहरण प्रस्तुत किया है । चार्ल्स ड्रेपरने अपने उद्देश्योंके सम्बन्धमें बी० बी० सी० के लिए एक वार्ता लिखी । एक एनाउन्सरने उसे पढ़कर सुनाना शुरू किया, जो थोड़ा-बहुत आकर्षक रहा । अन्तिम कुछ मिनटोंके लिए ड्रेपरने अपनी वार्ता खुद पढ़ी । एनाउन्सर और उनके पढ़नेमें आश्चर्यजनक अन्तर रहा । वार्ता सजीव हो उठी लगा कि उसके पीछे एक व्यक्तित्व आ गया जो अपने विचारोंको सोचता है और उन्हें अभिव्यक्त करता है । ड्रेपरकी

भाषा टूटी-फूटी थी, कहीं-कहीं उसका समझना भी कठिन था, फिर भी वार्तामें अद्भुत आकर्षण आ गया। इस उदाहरणसे स्पष्ट हो जाता है कि रेडियो-वार्तामें महत्त्व स्वयं वार्ताका नहीं, उसके वार्ताकारके व्यक्तित्वका होता है। यहाँ एक बात और कह दी जाय। कुछ लोग कहते हैं कि हमारे यहाँ की वार्ताएँ इसलिए नीरस होती हैं कि वार्ताकार उन्हें आकर्षक ढंगसे पढ़ते नहीं, इसलिए उन्हें एनाउन्सरों, कलाकारोंके सुसंस्कृत स्वरोंसे पढ़वाना चाहिए। यह कहना उचित नहीं। ड्रेयरके उदाहरणसे ही यह स्पष्ट है कि वार्तामें स्वर और भाषाका उतना महत्त्व नहीं, जितना व्यक्तित्वका है। हमारे यहाँकी वार्ताओंकी नीरसताका कारण यह है कि यहाँ व्यक्तित्वके पक्ष पर ध्यान दिया ही नहीं जाता। वार्ताकी नीरसताके दूसरे कारणोंकी चर्चा हम पहले अध्यायमें कर आये हैं।

अब तीसरा प्रश्न। कहा जाता है, एक व्यक्ति जो वार्ता अकेले प्रसारित करता है, वह नीरस होती है, इसलिए कई व्यक्तियोंके सहयोगसे वार्ताको आकर्षक रूपमें प्रस्तुत करना चाहिए। एक व्यक्तिकी वार्ताको हम प्रत्यक्ष वार्ता कह सकते हैं। अंग्रेजीमें इसे 'स्ट्रेट टॉक' [Straight Talk] कहते हैं। अनेक व्यक्तियोंके सहयोगसे प्रसारित वार्ताको भेंट-वार्ता [Interview] परिसंवाद [Symposium] आदि कहते हैं। भेंट-वार्तामें प्रश्नकर्ता वार्ताकारसे प्रश्न पूछता जाता है और वार्ताकार प्रश्नोंके उत्तर देता है। परिसंवादमें कई व्यक्ति एक ही विषयपर अपने विचार प्रकट करते हैं। प्रश्न यह है कि रेडियो-माध्यमके लिए उपयुक्त क्या है, प्रत्यक्ष वार्ता या भेंट-वार्ता अथवा परिसंवाद?

इस सम्बन्धमें स्मरण रखनेकी बात यह है कि रेडियो सामूहिक प्रेषणीयताका साधन है—अत्यन्त साधन, जिसका परिचय हम पहले दे चुके हैं। इसके माध्यमसे एक व्यक्ति अपनेसे दूर रहनेवाले हजारों श्रोताओंसे प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित कर सकता है। रेडियो माध्यमकी सबसे बड़ी देन यही है। इसमें वक्ता-श्रोताका प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है। लेकिन इसके

विपरीत अप्रत्यक्ष वार्त्ताओं [भेंट-वार्त्ता आदि] में वार्त्ताकार एवं श्रोताओं-का प्रत्यक्ष सम्बन्ध खण्डित हो जाता है इनमें वार्त्ताकार एवं श्रोताओंके बीचमें कई अन्य व्यक्ति आ जाते हैं, इनमें वार्त्ताकार अपने श्रोताओंसे सीधे कुछ नहीं कहता बल्कि प्रश्नकर्त्ताओंके माध्यमसे कहता है। इस दृष्टिसे लगता है कि रेडियो-माध्यमके लिए यदि सबसे उपयुक्त साहित्य-रूप कोई है तो वह प्रत्यक्ष रेडियो-वार्त्ता ही।

०

रेडियो-वार्ता-लेखनकी तैयारी

प्रसिद्ध वक्ता वुड्रो विल्सनसे किसीने पूछा— आप अपने १० मिनटके भाषणकी तैयारी कितने समयमें करते हैं ? विल्सनने कहा—'दो सप्ताह।' प्रश्नकर्ताका प्रश्न हुआ—'और, एक घण्टेके भाषणकी तैयारीमें कितना समय लगाते हैं ?' उत्तर मिला—'एक सप्ताह।' प्रश्नकर्ताकी जिज्ञासा शान्त नहीं हुई उन्होंने फिर पूछा—'दो घण्टेके भाषणके लिए आपको कितना समय चाहिए ? 'उसके लिए तो मैं हर समय तैयार रहता हूँ।'— विल्सनका उत्तर था। ये उत्तर मजाक-जैसे कम सच्चे हैं, पर हैं नहीं। गम्भीरतासे सोचनेपर ज्ञात होगा कि कम अवधिमें अपने कथ्यको अभिव्यक्त कर देना सचमुच ही बहुत कठिन काम है। बड़े भाषणोंमें अनावश्यक विस्तार एवं आवृत्तियोंके लिए अवकाश हो सकता है, छोटे भाषणोंमें नहीं। इसीलिए कम अवधिके भाषणोंके लिए पर्याप्त तैयारीकी आवश्यकता होती है। रेडियो-वार्ताओंकी अवधि भी सीमित ही होती है—पाँच मिनटसे लेकर बीस मिनटतक अधिक वार्ताओंकी अवधि दस मिनट होती है। एक दस मिनट की वार्ता लिखना शुरू करनेके पहले वार्ताकारको काफी तैयारीकी अपेक्षा होती है। इस तैयारीका क्या तात्पर्य है, इसकी व्याख्या हम बादमें करेंगे-पहले विषयके सम्बन्धमें विचार कर लिया जाय। जिन व्यक्तियोंको विषय विशेष-पर वार्ता देनेके लिए आकाशवाणी द्वारा आमन्त्रित किया जाता है उनकी तैयारी तो उसके साथ ही शुरू होती है। उन्हें विषयके लिए चिन्ता करने

की ज़रूरत नहीं पड़ती। लेकिन जो व्यक्ति आमन्त्रित नहीं किये जाते फिर भी यह अनुभव करते हैं कि उनमें रेडियो-वार्ताके लेखन एवं प्रसारण-की क्षमता है, उनकी तैयारी विषयके चुनावसे ही शुरू होती है।

प्रश्न यह है कि रेडियो-वार्ताके लिए कैसे विषय अधिक उपयुक्त होते हैं? आकाशवाणीसे समय-समयपर प्रसारित कुछ वार्ताओंके विषय देखे जायें— 'भारतकी पुरानी राजनीति' 'कलामें नैतिकता-अनैतिकताका प्रश्न' 'दो चीनी यात्री' 'महायानमें विज्ञानवाद', 'कश्मीरका सौन्दर्य' 'महात्माजी के संस्मरण' 'पुस्तकें जिनसे मैंने सीखा' 'खादकी उपयोगिता' 'अपनी खेतीके तीन तरीके' 'विदेश-यात्राके मेरे अनुभव'। इन्हें देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि दुनियाका कोई भी ऐसा विषय नहीं है जिसपर वार्ता न प्रसारित की जा सके पर ऐसा अनुमान करते समय आकाशवाणीके भूतपूर्व डायरेक्टर ऑफ प्रोग्राम्स सोमनाथ चिब्बरका यह कथन स्मरण रखना चाहिए कि जिन विषयोंपर [आकाशवाणीके] वार्ताकार जितना सरल समझते हैं वे वार्ताकी अपेक्षा निबन्ध-लेखनके अधिक उपयुक्त प्रकारके होते हैं। सचमुच जो विषय ऊपर दिये गये हैं वे सभी रेडियो-वार्ताके उपयुक्त नहीं कहे जा सकते। अब तक जो विवेचन हो चुका है उससे स्पष्ट है कि रेडियो वैयक्तिकताकी अभिव्यक्तिका सबसे सुन्दर माध्यम है। अतः जिन विषयोंमें वैयक्तिकताकी अभिव्यक्ति अधिक से अधिक हो सके जिनमें आत्मिक अनुभवों एवं आत्मपरकताको व्यक्त करनेके लिए अधिक अवकाश रहे वे अन्यान्य विषयोंकी अपेक्षा निश्चय ही रेडियोके अधिक उपयुक्त कहे जायेंगे। वार्ताकारके पास यदि कुछ ऐसे अनुभव हैं जो सबके लिए रुचिकर हो सकते हैं यात्राके ऐसे संस्मरण हों जिनमें उसने स्थान-विशेषके सौन्दर्यको अपनी आँखोंसे देखा हो यहाँके लोगोंके रहन-सहनका अपनी दृष्टिसे अध्ययन किया हो ऐसे विषय हों जिनपर उसने अपनी बुद्धिसे विचार किया हो तो उन्हें वह अपनी वार्ताका विषय बना सकता है। व्यक्तिगत दृष्टिवाली वार्ताएँ अधिक लोगोंको अपनी

और माकूल कर सकेंगी इसमें सन्देह नहीं। बैनेट डमबरने ठीक ही कहा है—'सच्ची व्यक्तिगत वार्त्ता अधिक श्रोताओंको रुचिकर होती है, क्योंकि वह आत्मनिष्ठ होकर दी जाती है और उसमें वैयक्तिक रंग अधिक रहता है। वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ इन दोनों प्रकारकी वार्त्ताओंमें किसमें अधिक रोचकता होती है इसकी झलक दो वार्त्ताओंके कुछ प्रारम्भिक वाक्योंमें मिल जा सकती है। पहली वार्त्ताका शीर्षक है 'कवि-सम्मेलन और मुशायरे' जिसमें वार्त्ताकार तटस्थ भावसे प्रारम्भ करता है—

छापेखानेने करोड़ों आदमियोंके लिए यह मुमकिन बना दिया है कि नज्म और नसर किताबोंमें चुपचाप पढ़ते रहें लेकिन असरका एक खास असर उस वक्त भी पड़ता है जब कई लोग जिनकी तादाद सैकड़ोंसे लेकर हजारों तक पहुँच जाती है एक जगह आकर मिल बैठें और असरका बजाय चुपचाप अकेले पढ़नेके शायरके मुँहसे उसे सुनें। इस तरह पूरे मजमेमें एक फिजा पैदा हो जाती है और एक समां बँध जाता है। इसीलिए हमारी समाजी जिन्दगीमें अदबी असरको फैलाने और सँवारनेमें मुशायरों और कवि-सम्मेलनोंका बहुत बड़ा हिस्सा रहा है।

[रेडियो-संग्रह, अक्टूबर दिसम्बर १९५१]

दूसरी वार्त्ताका शीर्षक है 'कवि-सम्मेलनोंके कड़ुए मीठे अनुभव' जिसमें एक लब्धप्रतिष्ठ कवि प्रारम्भ करता है—

'मैंने प्रायः १९३२-३३ से कवि-सम्मेलनोंमें भाग लेना शुरू किया। इन पच्चीस वर्षोंमें छोटे-बड़े मिलाकर कोई ५०० कवि-सम्मेलनोंमें तो भाग ले चुका हूँगा। और इनमें मुझे तरह-तरहके अनुभव हुए—सुखद दुःखद मनोरंजक और विचित्र भी। कुछ आपके सामने रख रहा हूँ। [इसके बाद अनुभव प्रारम्भ होते हैं]

[आकाशवाणी प्रसारिका अक्टूबर-दिसम्बर १९५७]

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि ऐसी अनुभववाली वार्त्ताओंमें वार्त्ताकार का व्यक्तित्व भी महत्त्वपूर्ण होना चाहिए, जिसमें श्रोताओंकी रुचि हो।

इन बातोंसे यह न समझा जाय कि तथ्यप्रधान सूचनात्मक एवं शिक्षात्मक वार्ताओंका कोई महत्त्व ही नहीं है। अपने स्थानपर उनका भी महत्त्व है। बहुत-से ऐसे विषय हैं जिनकी केवल सूचनाओंमें भी श्रोताओंकी रुचि होती है। ऐसा नहीं होता तो रेडियोसे कोई समाचार क्यों सुनता? रूसने जब अन्तरिक्षमें अपना राकेट छोड़ा तो लोगोंमें उसके प्रति काफी अभिरुचि थी। लोग जानना चाहते थे कि पृथ्वीकी आकर्षण-शक्तिकी सीमाके बाहर रूसी राकेट कैसे जा सका? दूसरे ग्रहोंपर पहुँचनेकी क्या सम्भावनाएँ हैं? ऐसे अनेक तथ्यप्रधान विषय हैं जिनमें श्रोताओंकी दिलचस्पी हो सकती है। ग्रामीण श्रोता यह जानना चाह सकते हैं कि खेतोंकी उपज किस प्रकार बढ़ सकती है? खादका उपयोग क्या है? उससे क्या लाभ हो सकते हैं? ऐसे तथ्यप्रधान सूचनात्मक विषय भी रेडियो-वार्ताके लिए चुने जा सकते हैं।

वार्ताके विषयका चुनाव करते समय वार्ताकारको एक और महत्त्वपूर्ण बातपर ध्यान रखना पड़ता है—वह किसके लिए वार्ता प्रसारित करनेकी सोच रहा है? कौन-सा वर्ग उसकी वार्ता सुनेगा? उसकी वार्ता सामान्य शिक्षित व्यक्तियोंके लिए होगी अथवा अशिक्षित ग्रामीण श्रोताओंके लिए? महिला श्रोताओंके लिए या बच्चोंके लिए? स्कूलके छात्रोंके लिए या कालेजके युवकोंके लिए? इन सभी वर्गोंकी अपनी-अपनी विशेषताएँ होती हैं इनकी अपनी-अपनी अभिरुचि होती है। एक ही वार्ता सभी वर्गोंके लिए नहीं हो सकती। 'कलामें नैतिकता-अनैतिकताके प्रश्न' पर कोई वार्ता ग्रामीण श्रोताओंके लिए नहीं प्रसारित की जा सकती। इसी प्रकार 'विज्ञानवाद पर कोई वार्ता न बच्चोंके कार्यक्रममें जा सकती है, न स्कूलोंके ही। विषयका चुनाव श्रोता-वर्गके मनोविज्ञान अभिरुचि आदिके आधारपर ही हो सकता है। वार्ताकारको सोचना पड़ेगा कि वह जिस वर्गके लिए वार्ता देना चाहता है, उसकी रुचि किन विषयोंमें हो सकती है। उदाहरण के लिए, महिला-श्रोताओंकी रुचि विशेषतः अपनी घर-गृहस्थी परिवार

वैज्ञानिक उपयोगके कार्यों आदिमें होती है। इसी प्रकार बच्चोंकी रुचि भी जानी जा सकती है। उनकी रुचि किन विषयोंमें होती है? अनुभव कहते हैं—'मैं समझता हूँ उनकी रुचि लोगों और पशुओंके विषयमें होती है। वे वस्तुओंका वर्णन तब तक नहीं सुनना चाहते जब तक उनका घनिष्ठ सम्बन्ध लोगों और पशुओंसे न हो। इसके साथ ही वे व्यक्तिगत साहसिक कार्यों अपनी पसन्दकी वस्तुओं और व्यावहारिक उपयोगवाले विज्ञान सम्बन्धी इन्हीं विषयोंको चाहते हैं। वार्ताकारको इन सभी बातोंका ध्यान रखना पड़ता है।

आकाशवाणीके किसी केन्द्रके लिए वार्ता लिखते समय वार्ताकारको आकाशवाणीकी सीमाओंसे भी परिचित रहना आवश्यक है। सभी प्रसारण केन्द्रोंकी अपनी नीतिगत सीमाएं होती हैं आकाशवाणीकी भी है। आकाशवाणीमें राजनीतिक धार्मिक आदि विवादास्पद विषयोंके लिए स्थान नहीं है। इससे प्रसारित होनेवाली वार्ताको किसी भी ऐसे अंशसे बचना होता है, जिसमें किसी व्यक्ति, सम्प्रदाय धर्म, संस्था मत आदिपर किसी भी प्रकार से आक्षेप किया गया हो।

विषय निश्चित हो जानेके बाद ही वार्ता-लेखनकी तैयारी शुरू होती है। इस दिशामें पहला काम है सामग्री-संकलन। वार्ताकारके पास अपनी वार्ताके लिए पर्याप्त सामग्रीका रहना अत्यावश्यक है। उसके अभावमें सफल वार्ताकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। यह सही है कि रेडियो वार्ताकी सीमित अवधिमें बहुत अधिक सामग्री प्रस्तुत नहीं की जा सकती रेडियो-वार्ताकारसे उसकी अपेक्षा भी नहीं की जा सकती पर उससे जो अपेक्षा की जाती है, वह सामग्रीकी सम्पन्नतापर ही निर्भर है। जब हाथमें पर्याप्त सामग्री रहे, तभी उसमेंसे अपने उपयोगके तथ्य चुने जा सकते हैं और उनके आधारपर अपना दृष्टिकोण निश्चित किया जा सकता है। इसीलिए सभी रेडियो-विषय-विशेषज्ञ अधिक सामग्री जुटानेपर जोर देते हैं। जिन व्यक्तियोंको रेडियो-वार्ता देनेके लिए आमंत्रित किया जाता है वे

सामान्यतः अपने विषयके विशेषज्ञ होते हैं, उनके पास सामग्रीकी कमी नहीं रहती। लेकिन जो विशेषज्ञ नहीं हैं उन्हें पुस्तक आदिकी शरण लेनी पड़ती है।

तथ्यप्रधान वार्ताओंमें विभिन्न दृष्टिकोणोंसे सामग्रीका संकलन अपेक्षित है। विभिन्न विद्वान् विषय-विशेषके सम्बन्धमें क्या विचार रखते हैं यह जानना भी उचित है। तथ्य बिल्कुल प्रामाणिक हों जिससे श्रोताओंको उनमें किसी प्रकारके सन्देहके लिए अवकाश न रहे। वार्तामें यदि उद्धरण दिये जायें तो वे भी पुष्ट शुद्ध और प्रामाणिक हों। रेडियो-वार्ताओंमें इन बातोंपर विशेष ध्यान होता है।

तथ्य-संग्रह वार्ता-लेखनकी दिशामें केवल एक कदम है। वास्तविक तैयारी तो इसके बाद शुरू होती है। यह पहले कहा जा चुका है कि रेडियो-श्रोता केवल तथ्य और आँकड़े नहीं चाहता। वह अपने वार्ताकारसे इनसे कुछ अधिक चाहता है। वह कुछ ऐसी वस्तु चाहता है जो उसे कहीं भी लिखित रूपमें उपलब्ध न हो सके। वह लेखकका दृष्टिकोण चाहता है, वह वार्ताकारका व्यक्तित्व चाहता है और इसे ढूँढ़ने और देनेका प्रयत्न करना ही वास्तविक तैयारी है। इसके लिए चिन्तन-मननकी आवश्यकता होती है। सफल रेडियो-वार्ताकारोंके अध्ययनके आधारपर जैनेट डन्बर कहते हैं कि उनमें दो बातें बहुत ही स्पष्ट रूपमें दिखायी पड़ती हैं। उनमें वह अन्यतमेय वैयक्तिक गुण प्रचुर मात्रामें रहता है जिसे हम व्यक्तित्व कहते हैं। लेकिन उनमें इससे कुछ अधिक भी होता है। यदि आप उनकी वार्ताओंको आलोचककी तरह सुनें तो आप पायेंगे कि उन्होंने अपने आलेखकी रूप-रेखाके बारेमें सोचनेमें काफी सावधानी बरती है। यही सोचना वास्तविक तैयारी है। जैक वार्नेकी आपकी तैयारीके सम्बन्धमें लिखते हैं— तैयारीका अर्थ है—सोचना चिन्तन करना जो विचार आपको सबसे अधिक आकृष्ट करते हैं उनका चुनाव करना, उन्हें चमकाना उन्हें एक निश्चित योजनामें रखना। इसके बिना कोई भी वार्ता चाहे वह कितनी भी

प्रकारकी क्यों न हो सफल नहीं हो सकती। प्रसिद्ध वक्ताओंके अनुभव इसकी सत्यताको सिद्ध करते हैं। प्रत्यक्ष भाषणोंके लिए भी इस प्रकारकी तैयारीकी आवश्यकता होती है, रेडियो-वार्ताओंके लिए भी।

प्रसिद्ध वक्ता वुड्रो विल्सनका ही उदाहरण लिया जाय। भाषण तैयार करनेकी अपनी प्रक्रियाके सम्बन्धमें वे कहते हैं—'मैं कुछ ऐसी बातोंकी सूचीसे शुरू करता हूँ जिन्हें मैं अपने भाषणमें रखना चाहता हूँ उन्हें उनके पारस्परिक स्वाभाविक सम्बन्धोंको देखते हुए अपने मनमें सजाता हूँ यानी मैं वस्तुकी अस्थियोंको एक साथ संगठित करता हूँ। एक दूसरे वक्ता अलेक्जेण्डर हैमिल्टनका अनुभव भी देखा जा सकता है वे कहते हैं—'लोग मुझे प्रतिभावान् होनेका श्रेय देते हैं, लेकिन मुझमें जो प्रतिभा है, वह इस बातमें है जब मेरे पास कोई विषय होता है तो मैं उसका खूब अध्ययन करता हूँ। दिन-रात वह मेरे सामने रहता है। मैं उसके सभी पहलुओंको खोजता हूँ। मेरा मस्तिष्क उससे भर जाता है।

इस प्रकारके चिन्तनकी अपेक्षा इसलिए होती है कि श्रोताओंके मनपर अपेक्षित प्रभाव पड़ सके और वार्ताकार अपने प्रयोजनको सिद्ध कर सके। जैसा कि डेल कार्नेगीने कहा है 'प्रत्येक भाषण एक यात्रा है, जिसका एक उद्देश्य होता है, और जिसका रास्ता पहलेसे ही निश्चित कर लेना चाहिए।' रेडियो-वार्ताके सम्बन्धमें भी यह बात बिल्कुल सही है। प्रत्येक रेडियो-वार्ताका एक प्रयोजन होता है, और उसकी सिद्धिके लिए उसकी एक निश्चित रूप-रेखा होनी चाहिए।

पहले हम प्रयोजनकी ही बात लें। कुछ वार्ताएँ अपने श्रोताओंका केवल मनोरंजन करना चाहती हैं, कुछ अपने श्रोताओंको अपने तर्कोंसे प्रभावित करना चाहती हैं कुछ किसी कठिन विषयकी व्याख्यासे अपने श्रोताओंको परिचित कराना चाहती हैं, कुछ श्रोताओंको किसी कार्यके लिए सक्रिय करना चाहती हैं। उदाहरणके लिए, यदि वार्ताकार 'गप लड़ाना भी एक कला है' विषयपर वार्ता दे रहा है, तो उसका एक मात्र

नहीं है। भूमिकात्मक प्रारम्भ किसी वार्ताको निश्चित रूपसे असफल बना देता है। निबन्धोंके प्रारम्भमें जिस प्रकार भूमिकाएँ लिखी जाती हैं, उस प्रकार वार्तामें नहीं लिखी जा सकतीं। पर हमारे यहाँकी रेडियो-वार्ताएँ निबन्धकी शैलीसे प्रभावित होनेके कारण अधिकतर भूमिकाओंसे ही प्रारम्भ होती हैं। कहीं-कहीं तो ये भूमिकाएँ बहुत बड़ी और लम्बी होती हैं और वार्ताके मूल विषयसे उनका विशेष सम्बन्ध भी नहीं होता। उदाहरणके लिए कुछ वार्ताओंके प्रारम्भ देखे जा सकते हैं। 'पुराणोंमें प्रतीक' शीर्षक वार्ताका प्रारम्भ इस प्रकार है

'भारतवर्षका पुराण साहित्य एक अत्यन्त अद्भुत और रहस्यमय साहित्य है। इसके सम्बन्धमें विद्वानोंकी अनेक विरुद्ध धारणाएँ हैं। सभी धारणाओंकी पुष्टिके लिए पुराणोंमें प्रमाण मिल जाते हैं। एक ओर तो स्वामी-दयानन्द सरस्वती-जैसे पण्डितोंका यह मत है कि पुराण कपोल-कल्पित मनगढ़न्त अनैतिहासिक, झूठी और बहुधा अश्लील कहानियोंके संग्रह हैं। पाश्चात्य विद्वानोंके मतमें भी पुराणोंमें केवल असभ्य और मानवजातिके शैशवकालके समयमें प्रचलित धार्मिक काल्पनिक कहानियाँ हैं। प्रायः सभी देशोंमें इस प्रकारकी कहानियाँ प्रचलित हैं और ये प्राचीन कालसे चली आती हैं। इन कहानियोंका आधार आदिम मनुष्योंकी सृष्टि, ईश्वर और परलोक आदि सम्बन्धी स्थूल विचार हैं। [१५ मिनटकी वार्तामें लगभग चार मिनट तक पुराणोंकी चर्चा वार्ताकार

'भारतमें स्वाधीनता-आन्दोलनके कारण स्त्रियोंमें भारी जागृति आयी। लेकिन अभी तक उनकी सामान्य स्थिति पिछड़ी हुई है। सरोजिनी नायडू, विजयलक्ष्मी पंडित राजकुमारी अमृतकौर आदि अपवाद हैं। हमारे देशमें स्त्रियोंको कानूनी हक मिले हैं लेकिन उनकी शिक्षा आदिका स्तर अभी पूर्व असन्तोषजनक है। प्रगति अवश्य तेजीसे हो रही है, और हमें आशा है कि शीघ्र ही भारतमें भी स्त्रियोंकी उन्नति वेगसे होने लगेगी।
स्त्रियोंके लिए शिक्षा चिकित्सा आदिके क्षेत्र विशेष रूपसे उपयुक्त हैं। परन्तु पत्रकारिता एक ऐसा क्षेत्र है, जो आसानीसे अपनाया जा सकता है, क्योंकि इसमें पौरुषकी आवश्यकता कम है। नैतिक साहसमें तो स्त्रियाँ किसी प्रकार भी पुरुषोंसे पीछे नहीं हैं। पत्रकारितामें स्त्रियोंको सफलता भी काफी मिली है।

[प्रसारिका जुलाई–सितम्बर १९५५]

इस तरहके सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं। रेडियो-वार्तामें इस प्रकारके भूमिकात्मक प्रारम्भकी अनुपयुक्तताका एक कारण यह भी है कि रेडियो-वार्ताकी अवधि सीमित होती है। अगर कोई वार्ता १० मिनटकी है तो उसे प्रसारणके समय कभी भी ११ मिनटका समय नहीं दिया जा सकता। उसे १० मिनटके भीतर ही समाप्त होना है। पत्र-पत्रिकाओंमें मुद्रित निबन्धोंके लिए इतना कठिन बन्धन नहीं होता। अतः रेडियो-वार्तामें भूमिका देनेका अर्थ है समयका दुरुपयोग। वार्ताकारको अपनी सीमित अवधिका अधिकाधिक उपयोग करना है, और इसके लिए उसे भूमिकामें अपना बहुमूल्य समय नष्ट नहीं करना चाहिए। समयका यह प्रश्न श्रोताओं-की दृष्टिसे भी महत्त्व रखता है। आज हम सभी गतिके युगमें हैं, आरम्भिक युगोंमें लोगोंके जीवनमें जो अवकाश था वह आधुनिक युगके जीवनमें नहीं रह गया है। समयकी चिन्ता सबको लगी रहती है। ऐसी स्थितिमें श्रोता भी चाहता है कि वार्ताकार लम्बी-चौड़ी भूमिका न बाँधे बल्कि उसे जो कुछ कहना है, उसे वह जल्दी और बिलकुल सीधे ढंगसे कहे। 'पब्लिक

स्पीकिंग एण्ड सिविलिस्ड मेन' पुस्तकके लेखक सिडनी एफ० विकसने बहुत ठीक कहा है कि 'भाषण लिखनेमें, कोई रचना लिखनेकी तरह ही, हम लोग पीछे मुड़कर साधारणतः पहले पैराग्राफको निकाल दे सकते हैं। आप वहाँ अपनी भूमिकाका अन्त समझते हैं वहींसे प्रारम्भ कीजिए।' सचमुच अपने विषयमें सहसा प्रवेश कर जाना कितना आवश्यक होता है, यह 'सर्वोदय' शीर्षक वार्त्ताकी पहले प्रस्तुत की गयी पंक्तियोंमें फिरसे देखा जा सकता है

'यह सर्वोदय विचार है क्या? पहली बात यह समझ लेनी चाहिए कि यह कोई वाद नहीं है, जैसे कि कई प्रकारके वाद आज प्रचलित हैं। यह एक मुक्त विचार है। महात्माजीने स्वयं जोर देकर कहा था कि उन्होंने किसी भी प्रकारके वादकी स्थापना नहीं की है। वह तो केवल सत्यकी खोजमें लगे रहे थे। इसी खोजमें उन्हें अहिंसा अथवा सर्वोदयका विचार मिला था।

भूमिकात्मक प्रारम्भको निकाल देनेसे कुछ वार्त्ताएँ किस प्रकार आकर्षक हो जा सकती हैं, इसके अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। एक उदाहरण यहाँ 'प्रेमचन्दकी कथा' शीर्षक वार्त्तासे है

'अनन्तयात्री प्रेमचन्दजी धन्य! सचमुच वे अनन्तयात्री थे। बिना कुछ पास हुए भी लिखे ही गये और इस निरन्तर यात्रामें कहीं भी उस यशःप्राप्तिमें रुकावट या लड़खड़ाहट नहीं। सच्चाई यह है कि प्रेमचन्द अपने समयके बहुत बड़े कलाकार थे पर उससे भी बड़े मनुष्य थे। समाजकी उस उपेक्षामें भी जिये जाना और अपनेको कटुतासे बचाये रखना किसी साधारण मनुष्यके लिए सम्भव ही नहीं था।

उनकी आँखें बुराइयोंकी सघन कपाट दीवारके आर-पार मनुष्यमें देवत्वका दर्शन करनेकी आदी थीं। एक दिन मैंने उनसे पूछा—'कहनेको तो आप कहते हैं कि मेरा ईश्वरमें विश्वास नहीं है, मैं नास्तिक हूँ पर अपने साहित्यमें बार-बार आपका प्रयत्न है मनुष्यमें देवत्वका दर्शन, प्रचार और प्रसार। आखिर यह क्या बात है?'

अपने खास लहजेमें व बोले—'जनाब ! ईश्वरमें विश्वास करनेकी जरूरत ही उन्हें पड़ती है जो आदमीमें देवत्वका ध्यान नहीं कर सकते । यह तो अनुभवकी बात है, किसी चमत्कारकी नहीं कि बुरा आदमी भी बिल्कुल बुरा नहीं होता । उसमें कहीं-न-कहीं देवत्व अवश्य छिपा रहता है । मैंने अपनी कलमसे इस सत्यको कहीं-कहीं उभार दिया है, और कहीं-कहीं प्रकाशित कर दिया है ।

प्रेमचन्दजी अपने इसी मूल दृष्टिकोणके कारण बुरे आदमियोंकी भी बुराई नहीं करते थे या यूँ कहूँ कि बुरे आदमियोंकी बुराईको सह जाते थे पी जाते थे पचा जाते थे।

[प्रसारिका जुलाई दिसम्बर १९५५]

अगर यह वार्ता यहाँसे प्रारम्भ होती कि एक दिन मैंने प्रेमचन्दजीसे पूछा— और पूछनेमें कही गयी बातें यहीं बादमें आ जाती तो प्रारम्भ शायद कुछ और आकर्षक हो जाता । महान् व्यक्तियोंके संस्मरणोंमें जो आकर्षण होता है वह उनकी जीवन-कथामें नहीं उनके गुणोंके सम्बन्ध में लिखे गये निबन्धोंमें भी नहीं । अतः किसी रोचक संस्मरणसे वार्ताका प्रारम्भकर उसमें श्रोताओंकी रुचि उत्पन्न की जा सकती है । वार्ताके प्रारम्भका उद्देश्य यही होता है कि उससे श्रोताओंके मनमें वार्ताके अगले अंशोंके प्रति रुचि एवं जिज्ञासा जगे । आकाशवाणी प्रसारिका [अप्रैल-जून १९५६] में एक वार्ता है—'बापूका पत्र-साहित्य' । इसमें बापूके कुछ बड़े सुन्दर पत्र उद्धृत किये गये हैं जिनमें किसीकी भी रुचि हो सकती है, लेकिन वार्ताकार प्रारम्भ करते हैं इस प्रकार—

पत्र लेखन एक कला है । गांधीजी इस कलामें बहुत निपुण थे । उनके बहुविध पत्रोंकी संख्या हजारों तक पहुँचती है । अकेली मीरा बहन, उनकी एक प्रधान यूरोपियन शिष्या के पास ६०० से अधिक उनके पत्र हैं । ऐसे सैकड़ों व्यक्ति भारतमें तथा बीसियों विदेशोंमें होंगे जिन्हें वे समय-समयपर बड़े चावसे पत्र लिखा करते थे । उन्होंने वायसराय और

दूसरे देशोंके राजनयज्ञों तथा अन्य उच्च पदस्थ राजनायकोंसे लेकर भारतके एक साधारण कार्यकर्ता तक को पत्र लिखे हैं। आदि-आदि।

ऐसी चर्चा कुछ देर तक चलती है, उसके बाद पत्र उद्धृत किये जाते हैं। इस चर्चासे श्रोता यही समझेगा कि वार्ताकार बापूके पत्र-साहित्यका इसी प्रकार परिचय देंगे। वार्ताका शीर्षक भी इसी बातकी ओर संकेत करता है। यदि वार्ताका शीर्षक 'बापूके कुछ पत्र' या 'बापूके कुछ महत्त्वपूर्ण पत्र' होता तो श्रोता यह आशा बनाये रख सकता कि प्रारम्भिक चर्चाके बाद बापूके पत्र उद्धृत किये जायेंगे। ऐसी स्थितिमें श्रोताओंकी जिज्ञासा बनाये रखनेके लिए वार्ता बापूके किसी पत्रसे ही प्रारम्भ की जा सकती थी अथवा वार्ताकार प्रारम्भमें ही यह दे सकते थे— इसके पहले कि मैं बापूके कुछ महत्त्वपूर्ण पत्रोंके अंश आपके सामने रखूँ, मैं आपसे यह कह दूँ कि बापू पत्र-लेखन-कलामें बहुत निपुण थे।...

प्रेमचन्दके साथ हुए वार्तालाप या बापूके लिखे किसी पत्रके अंशसे वार्ता प्रारम्भ करनेका अर्थ यह है कि उसे नाटकीय ढंगसे प्रारम्भ किया जाय। नाटकीयतामें स्वभावतः आकर्षण होता है और रेडियो-वार्ताकार चाहे तो इस नाटकीय शैलीका उपयोग सहज ही कर सकता है। हाँ यह ध्यानमें रखना आवश्यक है कि नाटकीयता कहीं अतिनाटकीयतामें न बदल जाय। कभी-कभी यह अतिनाटकीयता बहुत प्रभावोत्पादक होती है, कभी-कभी हास्यास्पद भी हो जाती है। अतिनाटकीयताका एक उदाहरण अमरीकी वार्ताकार ह्यू लांगसे लिया जा सकता है। अमरीकी सिनेटके सदस्य ह्यू लांगने राजनीतिक जीवनमें उच्च स्थान प्राप्त करनेमें रेडियोके माध्यमका बड़ा सहारा लिया था। वह बड़े ही आत्मीय किन्तु नाटकीय ढंगसे अपने श्रोताओंसे बातें करता था। उसकी एक वार्ताका प्रारम्भ इस प्रकार था

'मित्रो यह ह्यू पी० लांग बोल रहा है। मुझे कुछ बहुत ही महत्त्वपूर्ण रहस्य आपके सामने खोलने हैं लेकिन मैं ऐसा करूँ, इसके पहले मैं

चाहता हूँ कि आप टेलीफोनके पास जायें और अपने पाँच मित्रोंको कह दें कि वे भी सुनें। मैं चार-पाँच मिनट तक यों ही बातें करता रहूँगा बिना कोई विशेष बात कहे ही, इसलिए आप टेलीफोनके पास जाइए, और अपने मित्रोंसे कह दीजिए कि मैं आज रेडियोपर बोल रहा हूँ।

इसमें सन्देह नहीं कि यह एक आकर्षक प्रारम्भ है, पर आकाशवाणीमें ऐसी नाटकीयताके लिए सम्भवतः बहुत कम स्थान है। फिर भी अपनी सीमामें ही नाटकीयताका उपयोग किया जा सकता है। उदाहरणके लिए, किसी व्यक्तिका परिचय देते समय यह आवश्यक नहीं कि उसके जन्मकी बातसे ही वार्ता प्रारम्भ की जाय जैसा कि इन वार्ताओंमें किया गया है

'स्वामी रामकृष्ण परमहंसका जन्म बंगाल प्रान्तके हुगली जिलेमें १७ फरवरी सन् १८३६ ई० बुधवारको कामारपुकुर नामक गाँवमें हुआ था। यह गाँव कलकत्तासे लगभग पचास मीलकी दूरीपर पश्चिमकी दिशामें है। इनका जन्म नाम गदाधर था।

[प्रसारिका जुलाई–दिसम्बर १९५५]

और

'ऋषि दयानन्दका जन्म काठियावाड़में मोरवी राज्यके एक कस्बेमें लगभग संवत् १८८१ अर्थात् सन् १८२४ ई० में हुआ था। उनका जन्म नाम मूलशंकर था। उस समय भारतकी सामाजिक अवस्था बड़ी शोचनीय थी। आदि

[प्रसारिका, जुलाई–दिसम्बर १९५५]

इन महान् व्यक्तियोंके जीवनमें बहुत-सी महत्त्वपूर्ण एवं आकर्षक घटनाएँ घटी हैं जिनकी चर्चासे वार्ताएँ प्रारम्भ की जा सकती हैं। कुछ ऐसी घटनाओंकी चर्चा वार्तामें आगे चलकर हुई भी है।

प्रारम्भको आकर्षक बनानेके और भी कई उपाय हैं। वार्ता किसी

हास्य-प्रधान प्रसंग या उक्तिसे शुरू की जा सकती है। 'जीनेका सलीका' शीर्षक इस वार्ताका प्रारम्भ देखिए

'एक साहब पिटते भी जा रहे थे और हँसते भी जा रहे थे और जिस क़दर बेतहाशा पिटते थे उस ही क़दर बेतहाशा हँसते थे। दर्याफ़्त हाल करनेपर साहब मौसूफ़ने बताया कि पीटनेवाला ग़लत आदमीको पीट रहा था। इसलिए वह भी हिमाक़तसे कुछ [illegible] हो रहे थे। तो हज़रत यह तो रहा पिटनेका सलीका।

अब रहा जीनेका सलीका। इसका लतीफ़ा भी सुन लीजिए। दो आदमी एक ही कोठरीमें बन्द थे। रात बड़ी तारीक और भयानक थी और तूफ़ान शिद्दतपर था। तूफ़ान थमा तो दोनों कोठरीके दरवाज़ेपर आये और सलाखोंसे झाँकने लगे। एक यह कहता हुआ वापस गया—'उफ़ किस बलाकी तारीकी है।' दूसरा वहीं खड़ा रहा और अपने साथीसे बोला—'देखना एक तारा भी चमक रहा है।' लतीफ़ा तो ख़त्म हो गया, लेकिन कहनेवाले कहते हैं कि बात ख़त्म नहीं हुई, बल्कि इसमें जीनेका एक सलीका छुपा हुआ है। अगर इस लतीफ़ेको आप पा न सकें या उसके क़ायल न हों तो मारिए गोली इन सारे क़िस्सोंको।

किसी कामको ख़ूबी और ख़ूबसूरतीसे करना सलीका है। यूँ भी कह लीजिए तो कोई मुज़ायक़ा नहीं कि किसी बातको इस तरह कहना या करना कि उसका हक़ अदा हो जाये सलीका है। इस बिनापर मैं कुछ ऐसा समझता हूँ कि धर्म, इख़लाक़ और अमूमन मज़हब बहुत कुछ सलीक़े और शायस्तगीपर है। आपकी इस सिलसिलेके एक मशहूर तारीख़ी हकीमका लतीफ़ा मशहूर है जिसमें एक साहबने दर्याफ़्त किया कि 'हकीम साहब आपके इलाजसे भी लोग मरते हैं और किसी अताईके इलाजसे भी मरते हैं फिर आप दोनोंमें फ़र्क़ क्या रहा?' हकीम साहबने फ़रमाया—'कोई फ़र्क़ नहीं। बात सिर्फ़ इतनी है कि वह [illegible] बेक़ायदा काम

लेता है, मैं फ़ायदेसे काम लेता हूँ। यह फ़ायदा भी सलीक़े ही का दूसरा नाम है ?'

[रेडियो संग्रह अक्तूबर दिसम्बर १९५१]

किसी उद्धरणसे भी वार्ताका प्रारम्भ आकर्षक बनाया जा सकता है। किसी कविताकी दो चुभती हुई पंक्तियाँ उद्धृत कर प्रारम्भमें चमत्कार उत्पन्न किया जा सकता है। कवियों और साहित्यकारोंपर वार्ताएँ देते समय तो इसके लिए बहुत ही अवकाश रहता है, पर उसका पर्याप्त उपयोग नहीं किया जाता। उद्धरणवाले प्रारम्भके दो उदाहरण यहाँ दिये जा सकते हैं। 'हिन्दीमें व्यंग्य' शीर्षक वार्ताका प्रारम्भ है

'नहिं पराग नहिं मधुर मधु,
नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सों बँध्यो,
आगे कौन हवाल॥

बिहारीकी इन पंक्तियोंमें छिपे व्यंग्यने कर्तव्य-विमुख राजाको बिना आघात पहुँचाये झकझोर कर जगा दिया था। व्यंग्य उस चाबुककी तरह है जो अगर चोट पहुँचाता है तो इसीलिए कि हमें सचेत करना चाहता है। व्यंग्य सचेत न करे, जगाये नहीं सिर्फ़ चोट ही पहुँचाये आघात ही करे तो वह व्यंग्य नहीं है, व्यंग्य-सी लगनेवाली वह चीज़ गाली है।'

[रेडियो-संग्रह अक्तूबर-दिसम्बर १९५१]

दूसरा उदाहरण 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी वार्ताका है

'महाकवि इक़बालका एक गीत भारतमें बहुत प्रचलित है—

सारे जहाँसे अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा।
हम बुलबुलें हैं उसकी यह गुलिस्ताँ हमारा॥

किन्तु इक़बालसे बहुत पहले यह भाव बंगालमें जन्मा था जहाँ कि

महाकवि बंकिमचन्द्रने भारत माताकी कल्पना, सचमुच ही माता अथवा महादेवीके रूपमें की और देशको 'वन्दे मातरम्'का आवरण-मन्त्र देते हुए उन्होंने बड़े ऊँचे धरातलसे एक नयी स्तुतिका गान किया—'सुजलां सुफलां मलयजशीतलां'...... आदि-आदि।

[प्रसारिका, जनवरी-मार्च १९५६]

कविताओंके अतिरिक्त किसी महापुरुष या विद्वान्के उद्धरणसे भी वार्ताएँ प्रारम्भ की जा सकती हैं। किसी महापुरुषकी उक्तिसे वार्ताका सौन्दर्य भी बढ़ता है उसमें शक्ति भी आती है, उसका आकर्षण भी बढ़ता है। 'जार्ज अरुण्डेल' शीर्षक इस वार्ताका प्रारम्भ देखिए

'महात्माजीने एक बार मुझसे कहा था कि अंग्रेज तो योगियोंकी सन्तान मालूम होते हैं। उनकी प्रबन्ध-पटुता नियमित और व्यवस्थित जीवन कार्य-तत्परता किसी योगीसे कम नहीं। बस एक अन्तर है कि उनका ज्यादा प्रयास दूसरोंका शोषण करनेके लिए होता है। दूसरे मायनोंमें मैं उनको कभी-कभी रावणकी सन्तान कहा करता हूँ। रावण भी बड़ा विद्वान् और तपस्वी था अच्छा शासक और संगठनकर्ता था परन्तु वह रावण इसीलिए कहलाया कि दूसरोंको सताता था। फिर भी अंग्रेजोंके गुणोंका मैं कायल हूँ और उनके मुकाबिलेमें कई बार हिन्दुस्तानियोंको घटिया पाता हूँ।'

स्वर्गीय जार्ज अरुण्डेलका ध्यान आते ही महात्माजीके पूर्वोक्त वचन याद आ जाते हैं। फर्क इतना ही है कि अंग्रेजोंमें दूसरोंका शोषण करनेकी जो वृत्ति पायी जाती है उससे भी अरुण्डेल बिलकुल परे थे। विद्वान् तो वे थे लेकिन उनकी दृष्टिमें विद्वत्ताका दर्जा जीवन-शुद्धि और जीवन सिद्धिके मुकाबिलेमें कम था। उनकी इस विशेषताने उन्हें कोरा विद्वान् न रहने देकर थियोसफी जैसी ब्रह्म-विद्या सम्बन्धी संस्थाका अधिष्ठाता बना दिया।

[रेडियो-संग्रह अक्टूबर-दिसम्बर १९५१]

वार्ताको रोचक कहानियोंसे भी प्रारम्भ किया जा सकता है। इन

सम्बन्धमें भी यही ध्यान रखना होता है कि कहानी प्रासंगिक हो और वार्ताके मूल विषयसे उसका घनिष्ठ सम्बन्ध हो। 'समताका सिद्धान्त'—जैसे गम्भीर विषयका यह आकर्षक प्रारम्भ दर्शनीय है

'विधाताने जब सृजनका काम शुरू किया तब समताका सिद्धान्त ही उसका मापदण्ड था। एक आदिवासी लोक-कथाके अनुसार सबसे पहले केवल चार योनियोंमें प्राणी-जगत्‌की रचना हुई—आदमी बैल कुत्ता और उल्लू।

आदमीके सुपुर्द काम हुआ प्रकाशकी शक्तियोंका आह्वान और ईश्वर का गुणगान।

बैलके सुपुर्द हुआ प्राणी-जगत्‌का सेवा-भार।

कुत्तेके सुपुर्द हुआ प्राणी-जगत्‌की रखवाली।

और अन्धकारकी शक्तियोंपर निगाह रखनेका काम उल्लूको सौंपा गया।

परमात्माके दरबारमें उस वक्ततक सिर्फ एक तराजू थी और वह थी समताकी। चारोंकी तलबी हुई और ईश्वरीय आदेश सुना दिया गया तुम चारोंको चालीस चालीस बरसकी जीवन-अवधि दी जाती है।

आदेश सुनकर चारोंका मन उदास हो गया। आदमीने सोचा चालीस बरसमें तो उसके जवानीके हौसले भी पूरे न हो सकेंगे। मगर सबसे समझ दार प्राणी होनेके नाते वह जीवनका घूँट पीकर खामोश रहा।

परन्तु बैलसे न रहा गया। उसकी दोनों आँखोंसे टप-टप आँसू गिरने लगे। भारत्-भरे स्वरमें बोला—हे दयाके स्रोत! चालीस बरसतक सिर स्वर पिसते रहनेकी मेरे अन्दर शक्ति नहीं। मुझे केवल बीस वर्षकी आयु चाहिए। मगर परमात्माकी बख्शीशकी वापसीका तो कोई प्रश्न ही नहीं था। ऐसे गाढ़े वक्तपर आदमी बैलके काम आया। उसने विनती की—बैल-की आयुके बाकी बीस वर्ष मैं सहर्ष लेनेको तैयार हूँ। इस तरह मनुष्यकी आयु चालीससे साठ वर्ष हो गयी।

कुत्तेकी बारी आयी तो उसने केवल अपनी आयुके बारह वर्ष चाहे आदमीने कुत्तेके अट्ठारह वर्ष भी अपनी आयुमें जुड़वा लिये ।

अन्तमें घुग्घूसे पूछा गया । वह भी बड़ी कठिनाईसे आयुके बीस व देनेको राजी हुआ । जीवनकी अतृप्त लालसा लिये मनुष्यने घुग्घूके तिरस्कृ बीस वर्ष भी माँग लिये ।

अन्तिम रूपमें आदमीकी जीवन-अवधि १०८ वर्ष हो गयी, बैलकी बीस वर्ष कुत्तेकी बारह वर्ष और घुग्घूकी बीस वर्ष । चारों प्राणी ईश्वरको धन्य देते हुए मर्त्यलोकको लौट आये ।

लक्ष्मीजी जो भगवान्के निकट बैठी हुई थीं चारों प्राणियोंके विदा होनेके बाद भगवान्से कहा—भगवन्, आदमीने तो अपने सुझावोंमें समता- की ईश्वरीय कृपा भंग कर डाली । मगर रहा वह घाटेमें ।

विधाता बोले—लक्ष्मी ममता है, आदमी इसी उलटफेरमें चारों प्राणियोंकी जीवन-अवधि ले गया है । आदमी तो वह केवल चालीस वर्ष तक ही रहेगा । चालीस वर्षके बाद उसका जीवन बैलके समान होगा । परिवारके भरण-पोषणके लिए पिसना ही उसका ध्येय होगा । साठ वर्षके बाद वह कुत्तेकी तरह घरकी रखवाली करेगा और अस्सी वर्षके बाद घु घुग्घूकी तरह अन्धकारके राजा यमकी ओर ताकता रहेगा । कहो क्या सचमुच आदमी नफेमें रहा ?

आदिम युगसे लेकर अब तक जब-जब मनुष्यकी स्वार्थ बुद्धिने उसे समताका मधुर भाव छोड़नेके लिए प्रेरित किया तब-तब मानव-जातिको ठोकरें खाकर लहू-लुहान होना पड़ा ।

[प्रकाशित जनवरी-मार्च १९५५]

प्रारम्भ बहुत आकर्षक है इसमें सन्देह नहीं पर यह शिकायत की जा सकती है कि अपने मूल विषयपर आनेमें कुछ देर की गयी है ।

व्यक्तिगत वार्तामें भी वार्ताका प्रारम्भ होनेपर वार्तामें आकर्षण लाना है । हम पहले यह देख चुके हैं कि रेडियो-वार्ता वैयक्तिकताकी ही कथा

है, वार्ताकारके जीवनकी अभिव्यक्तिसे इसकी विशेषता बढ़ती है। 'प्रसारिका' [जुलाई-सितम्बर १९५५] में प्रकाशित दो वार्ताओंके प्रारम्भ इस दृष्टिसे देखे जा सकते हैं

१—एक समय था जब मैं सरकारी नौकरी और साहित्य-सृजनको परस्पर विरोधी काम मानता था। सरकारी नौकरी करनेसे पहले मैं एक स्वतन्त्र पत्रकार था और बाल्यकालमें ही लिखनेका रोग मुझे लग गया था।

[मेरा व्यवसाय और साहित्य-सृजन]

२—'मैं दिल्ली पहली मरतबा सन् १९११ में आया। मेरे स्कूलका सेण्ट स्टीफ़न्स हाई स्कूलसे हॉकीका मैच था। मेरे चचाज़ाद भाई टीममें थे। मैं एक्स्ट्रामें शामिल कर लिया गया ताकि मैं भी दिल्ली देख सकूँ। डाक्टर अन्सारी मरहूमके एक अज़ीज़ भी टीममें शामिल थे। इनके ज़रिये डाक्टर अन्सारीके यहाँ रहनेका इन्तज़ाम हो गया। मुझे ठीक याद नहीं कि मैंने दिल्लीमें क्या-क्या देखा। डाक्टर अन्सारीका मकान मोरी गेटके पास था। हॉकी-फ़ील्ड जहाँ हम खेले और हार गये कुछ दूर न था। कुतुब और तुग़लक़ाबाद तो अब भी दूर समझे जाते हैं।

[दिल्ली—नयी और पुरानी]

इस प्रकार वार्ताका प्रारम्भ अनेकानेक प्रकारसे किया जा सकता है। जो उदाहरण प्रस्तुत किये गये उनसे परे भी अभी अनेक प्रकार हैं—वार्ताका प्रारम्भ किसी प्रश्नसे हो सकता है, किसी चमत्कारपूर्ण उक्तिसे हो सकता है श्रोताओंको चौंकानेवाली किसी बातसे हो सकता है। इन प्रकारों की कोई सीमा नहीं है, और न इन्हें किन्हीं निश्चित नियमोंमें बाँधा ही जा सकता है। सब कुछ वार्ताकारकी प्रतिभा एवं शक्तिपर निर्भर है। वार्ताकारको यह सदा स्मरण रखना है कि वह किसी भी प्रकारसे वार्ता प्रारम्भ करे पर उसमें आकर्षण और रोचकताका गुण अवश्य ही रहना चाहिए।

कुछ वार्ताएँ सीमित अवधिकी ओर संकेत करते हुए प्रारम्भ होती हैं

वर्तमान वार्ताकी प्रगतिकी रेखाएँ इतनी सीधी नहीं हैं कि उनकी चर्चा थोड़े समयमें हो सके।

[रेडियो संग्रह अक्तूबर दिसम्बर १९५१]

सीमित अवधिका संकेत प्रारम्भमें या अन्तमें या कहीं भी प्रशंसनीय नहीं समझा जा सकता। वार्ताकार जानता है कि उसे एक सीमित अवधिमें ही अपनी बात कहनी है, उसे समयके बन्धनको स्वीकार करके ही चलना है। श्रोता भी इस बन्धनसे परिचित है, उसे इसकी याद दिलानेकी कोई आवश्यकता नहीं होती। इसका प्रभाव श्रोतापर अच्छा नहीं पड़ता।

प्रारम्भके बाद वार्ताके मध्य भागका प्रश्न आता है। वार्ताकी सफलता केवल उसके प्रारम्भपर निर्भर नहीं है, प्रारम्भ तो श्रोताओंके मनको अपनी ओर केवल आकृष्ट भर कर लेता है, विषयके प्रति श्रोताओंमें अभिरुचि उत्पन्न कर देता है। उसके बादका सब काम तो वार्ताके मध्य भागपर ही निर्भर है। श्रोता अन्त तक वार्ताको सुनता रह सके, इसके लिए इस मध्य भागमें भी पर्याप्त आकर्षकता रहना अनिवार्य है। जैसा कि फैंसेट हम्बर कहते हैं, रोचकताका सतत नवीन होते रहना ही श्रोताओंके ध्यानको बनाये रखता है। प्रश्न यह है कि वार्तामें प्रारम्भसे लेकर अन्त तक किस प्रकार रोचकताको बनाये रखा जाय। इसके लिए भी बँधे हुए नियम नहीं हैं, वार्ताकारकी प्रतिभापर ही यह भी निर्भर है। फिर भी यहाँ कुछ ऐसे उपायोंकी चर्चा की जा रही है, जिनसे वार्ताके मध्य भागमें रोचकता बनाये रखनेमें सहायता मिलती है।

वार्ताकारको सबसे पहले तो यह ध्यान रखना होता है कि सम्पूर्ण वार्ता एक ही प्रकारकी या एकरस न हो। एकरसता रोचकताके मार्गमें सबसे अधिक बाधा डालती है। सम्पूर्ण वार्तामें केवल चौंकानेवाली बातें ही रहें, सब कुछ नाटकीय ही रहे या सब कुछ बिल्कुल साधारण ढंगसे ही कहा जाय, तो वार्तामें एकरसता अनायास ही आ जायेगी। इस एकरसताको भंग करनेका प्रयत्न आवश्यक है। बीच-बीचमें रोचक प्रसंगों, दृष्टान्तों

उद्धरणों आदिके द्वारा ऐसा किया जा सकता है। बैरेट वनबरके अनुसार, 'विविधता आवश्यक है : मन-स्थितिमें परिवर्तन, दृष्टिकोणमें परिवर्तन और स्पष्टीकरणमें परिवर्तन।' तात्पर्य स्पष्ट है कि वार्ताकार अपने विषय को विभिन्न दृष्टियोंसे देखे, उसके विभिन्न पहलुओंको उद्घाटित करे, स्थान स्थानपर विषयान्तर भी करे। विषयान्तरसे एकरसता अवश्य ही भंग होती है, पर श्रोताको समझनेमें कोई कठिनाई नहीं हो, इसलिए विषयान्तर करते समय वार्ताकारके लिए यह कह देना आवश्यक होता है कि वह मुख्य विषयसे हटकर दूसरी ओर जा रहा है और ऐसा वह क्यों कर रहा है। मुख्य विषयपर आते समय विषयान्तरके पहले छोड़ी हुई मुख्य बातका दूसरे शब्दोंमें उल्लेख करके आगे बढ़नेसे विचारोंकी शृंखला बनी रहती है।

वार्ताकी सभी मुख्य बातोंको एक ही स्थानपर न कहकर कुछ-कुछ अन्तरपर कहते रहनेसे विविधता बनी रहती है। इसके विपरीत सभी मुख्य बातोंको एक ही स्थानपर रखनेसे एकरसताकी सृष्टि होती है। वार्ता-की मुख्य बातोंको किस प्रकार और कहाँ-कहाँ रखा जाय यह एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण विषय है और इसपर वार्ताकारको अवश्य ही ध्यान देना चाहिए।

वार्ताके क्रमिक विकासके सम्बन्धमें यह पहले ही कहा जा चुका है कि वार्ताकी विषय-वस्तुका विकास तर्कसंगत रूपमें कारण-कार्य-सम्बन्धके आधारपर होना चाहिए। वार्ताकी सभी कड़ियोंको सुसम्बद्ध होना चाहिए। इस पद्धतिमें श्रोताओंकी जिज्ञासाको जगाये रखनेकी शक्ति रहती है।

वार्ताके विकासकी दृष्टिसे आचार्य विनोबा भावेके इस प्रवचनका अध्ययन किया जा सकता है :

'हमने आजादी अहिंसक तरीकेसे हासिल की। अब एक बड़ा भारी सवाल हमारे सामने यह है कि आर्थिक तथा सामाजिक रचना करनेमें कौन-से तरीके इस्तेमाल किये जायँ। गाँधीजीके जमानेमें अहिंसात्मक तरीका इस्तेमाल किया गया। इसमें कोई विशेषता नहीं है, क्योंकि

से कह रहा हूँ। जो गम जमता है, वह ऊपर चढ़ता है। मनु महाराज
भविष्य लिखा था

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

'इस देशमें जो महान् विचारक पैदा हुए या होंगे उनके द्वारा दुनिया
के लोग अपने-अपने चरित्रकी शिक्षा लेंगे।" भाइयो ऐसा लेकर हमें मि
था जब हमारा देश अहिंसाके जरिये स्वराज्य हासिल कर रहा था। आ
भी हमारे देशमें ऐसे लोग हैं, जिनके हृदयमें सद्भाव है। थोड़ी हिम्म
और कल्पना-शक्ति रखो तो आपके हाथोंमें दुनियाको आकार देनेकी शक्ति
आ जायेगी। यह कोई आक्रमण नहीं है यह तो दुनियाको बचाना है। म
एक ऐसी महत्त्वाकांक्षा है, जो रखने लायक है। इसलिए यदि हम भूमि
मसला अहिंसक तरीकेसे हल कर सकेंगे तो दुनियाको रास्ता दि
सकेंगे।

['त्रिवेणी' से

इस प्रवचनका मूल विषय है—आजके युगमें अहिंसाका क्या महत्त्व है
और भूमिकी समस्या सुलझानेमें इसका क्या योग हो सकता है। इसकी
प्रतिपादन-शैलीमें देखा जा सकता है कि किस प्रकार एकरसताको भंग
करनेका प्रयत्न किया गया है—विभिन्न दृष्टियोंसे अपने मन्तव्यपर विचार
किया गया है, सभी बातें तर्कसंगत हैं बीच-बीचमें विनोदात्मक बातें हैं
['गांधीजीके जमानेमें अहिंसात्मक तरीका इस्तेमाल किया गया। इसमें
कोई विशेषता नहीं है।—'हम खुले तौरपर बिना किसीके दबावके चुनाव
कर सकें इसीलिए भगवान् बापूको ले गया।—अगर आप हिंसाको
मानते हैं, तो बापूका खून करनेवाला पुण्यवान् था—ऐसा कहना होगा।
आदि] उचित स्थलोंपर दृष्टान्तका सहारा लिया गया है। प्रस्तुत प्रवचन
रेडियो-वार्ता नहीं है, पर रेडियो-वार्ताकी दृष्टिसे भी सफल समझा जायेगा
इसमें सन्देह नहीं।

अब वार्ताके अन्तके सम्बन्धमें विचार किया जाय। इसका महत्त्व
म्भ और मध्यसे किसी प्रकार कम नहीं है। यह वार्ताका अन्त ही है
की पंक्तियाँ श्रोताके मनमें वार्ता सुननेके कुछ देर बाद तक गूँजती
ती है। सचमुच अन्त किसी वार्ताका बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंग है। लेकिन
जितना महत्त्व मिलना चाहिए, उतना साधारणतः नहीं मिलता।

इस सम्बन्धमें सबसे पहली बात तो ध्यान देनेकी यह है कि वार्ताकी
न्तिम पंक्तियोंसे वार्ताकी समाप्तिका ज्ञान होना चाहिए, उन्हें सुनकर
सा न लगे कि वार्ता एकाएक समाप्त हो गयी यह आगे भी चल सकती
। शीर्षोंका देश—कनाडा शीर्षक वार्ताका यह अन्त देखिए

'रेलका जो डिब्बा हमने देखा वह बड़ा विचित्र था। डिब्बेकी लम्बाई
ी कोई ८० फुट। और इतने-से डिब्बेमें २४ मुसाफिरोंमें-से हरेकके लिए
लग-अलग कमरे थे। कमरोंकी दो कतारें थीं और बीचमें दो फुट चौड़ा
रास्ता। कमरेमें उपलब्ध अनेक सुविधाओंकी चर्चाके बाद कमरेकी इन
ाजबी वस्तुओंके सिवा पानी पीनेके सेल्यूलाइडके गिलास कमोडका कागज
ाबिस्तरकी डिब्बी चार तौलिये और साबुन ये वहाँकी चल सम्पत्ति थी।
ुनियाके नवीनतम रेलके इस डिब्बेका नाम है डिप्लेक्स रूमट।

[प्रसारिका जुलाई-सितम्बर १९५१]

यह वार्ता एकाएक समाप्त हो गई—जैसी लगती है। उपर्युक्त
पंक्तियोंसे वास्तवमें वार्ताका अन्त नहीं होता। स्थान-परिचय-सम्बन्धी
एक दूसरी वार्ताकी अन्तिम पंक्तियोंका एक ऐसा उदाहरण लिया जाय
जिससे वार्ताकी समाप्तिका परिचय मिले। 'यह राजस्थान है' वार्ताका
यह अन्तिम अंश है

आज भी याद है चित्तौड़का वह गढ़, सिसवाड़ाका वह मन्दिर
अम्बरका वह दुर्ग और मेवाड़ी माटीलकी किरण-सी वह रानी।

[आकाशवाणी प्रसारिका, अप्रैल-जून १९५१]

तथ्यप्रधान वार्ताओंके सम्बन्धमें यह पहले कहा जा चुका है कि उसकी मुख्य बातोंको अन्तमें दुहरा देना श्रोताकी स्मरण-शक्तिकी दृष्टिसे उपयोगी होता है ।

जिन वार्ताओंका उद्देश्य श्रोताओंका सक्रिय सहयोग प्राप्त करना होता है, श्रोताओंको एक निश्चित दिशामें क्रियाशील बनाना होता है, उनके अन्तमें उस क्रियाशीलताका संकेत अपेक्षित है । आचार्य विनोबाका जो प्रवचन पहले उद्धृत किया गया है, उसके अन्तिम अंशमें इसे देखा जा सकता है ।

अन्य प्रकारकी वार्ताओंके अन्तिम अंशोंको भी आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक होना चाहिए । यह प्रभाव और आकर्षण किसी चुभती हुई उक्ति किसी कविताकी पंक्ति किसी महापुरुषके उद्धरण किसी मस्त बातसे उत्पन्न किया जा सकता है । उदाहरण-स्वरूप कुछ वार्ताओंके आकर्षक अन्त देखे जा सकते हैं

पहला उदाहरण 'कवि सम्मेलनोंके कड़ुए मीठे अनुभव' शीर्षक वार्ताका है 'जब मैंने बात शुरू की थी' तो सोचा था कुछ मीठे अनुभव सुनाऊँगा और कुछ कड़ुए, पर अब बात खत्म करनेका वक्त आया है, तब देखता हूँ कि कड़ुए अनुभव ही सुनाता चला आया हूँ । मीठे अनुभवकी बात तो इतनेसे ही समाप्त हो जाती है कि कवि-सम्मेलनमें बुलाया गया कविताकी खूब वाह-वाही हुई, समुचित पारिश्रमिक दिया गया और घर लौट आया । इसमें कहनेकी क्या बात हुई ?

फ्रांसीसी कहानी लेखक मोपासाँसे एक बार किसीने कहा कि आप जितनी कहानियाँ लिखते हैं उन सबमें बुरी औरतोंकी चर्चा रहती है आप भली औरतोंके विषयमें कहानियाँ क्यों नहीं लिखते ?

मोपासाँने कहा भली औरतोंके बारेमें कोई कहानी नहीं होती ।

[आकाशवाणी प्रसारिका, अक्तूबर दिसम्बर १९५७]

'देलवाड़ा' शीर्षक वार्ताका अन्त इस प्रकार है :

'कौन है जो विदेशोंसे आकर यहाँ आता है और इन मन्दिरोंके वर्णनपर चमत्कृत नहीं हो जाता ? पहला दर्शक इस सम्बन्धमें कर्नल टाडका मिलता है। यहाँ आकर और मन्दिरके शिखरको देखकर उसने अपनी पुस्तकमें लिखा है— बीजासा पहाड़के पाससे चला तब दोपहर हो गया था। उसी समय आबूकी चोटी दृष्टिगत हुई और मेरा हृदय आनन्दसे भर गया और उस ऋषिकी तरह मैं अनायास कह उठा : मैं पा गया, मैं पा गया।

[रश्मि-संग्रह, अक्टूबर दिसम्बर १९५३]

'पुराणोंमें प्रतीक' वार्ताका यह अन्त है :

'विष्णुके अवतार भी प्रतीकात्मक हैं। उनके द्वारा पुराण लेखकोंने सृष्टिके युगोंकी सभ्यता और संस्कृतिके विकासके क्रमका वर्णन किया है। मत्स्य—जलमें रहनेवाले, कूर्म—जल और थल दोनोंपर रहनेवाला, नृसिंह—आधा पशु और आधा मनुष्य, परशुराम—जंगली मनुष्य, राम—मर्यादा पुरुष, कृष्ण—पुरुषोत्तम, बुद्ध—ज्ञानी और कल्कि—कलियुगका अन्त करनेवाला महापुरुष। क्या ये युगोंके विकासके प्रतीक नहीं हैं ?'

[रश्मि-संग्रह, अक्टूबर दिसम्बर १९५३]

कविताकी पंक्तियोंसे वार्ता-समाप्तिका एक उदाहरण देखिए, वार्ताका शीर्षक है 'दोस्त' :

'आप ही बताइए, क्या आप ऐसे दोस्तोंसे घबराकर ऐसी जगह जाना चाहेंगे जहाँ कोई न हो। वक्ती तौरपर शायद आपका दिल घबराये लेकिन फिर आपको मोमिनके साथ कहना ही पड़ेगा—

'ठानी थी दिलमें अब न मिलेंगे किसीसे हम।
फिर क्या करें कि हो गये लाचार जीसे हम॥'

[प्रसारिका, जुलाई-सितम्बर १९५५]

इन उदाहरणोंसे स्पष्ट हो गया होगा कि वार्त्ताका अन्त किस प्रकार आकर्षक बनाया जा सकता है। प्रारम्भ और मध्यके सम्बन्धमें जो बात पहले कही गयी है, वही यहाँ भी दुहरायी जायगी कि वार्त्ताके अन्तके लिए भी कोई बँधे नियम नहीं हैं यह भी वार्त्ताकारकी शक्ति एवं प्रतिभाके आधारपर अनेक रूपोंमें प्रस्तुत किया जा सकता है। किसी भी प्रकारसे हो रेडियो-वार्त्ताका अन्त चुस्त और मनपर गहरी छाप छोड़नेवाला होना चाहिए, यही स्मरण रखना है। यह कहावत ठीक ही कही जाती है—अन्त भला तो सब भला।

रेडियो-वार्त्ताकी भाषा-शैली

आकाशवाणीके प्रतीक-चिह्नमें अंकित है—'बहुजनहिताय बहुजन सुखाय'। प्रसारणकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो यह केवल आकाशवाणीका ही उद्देश्य नहीं प्रसारण मात्रका उद्देश्य है। रेडियो सबकी कला है, यह सामूहिक प्रभविष्णुताका माध्यम है। इसकी सफलता इसी बातमें है कि इससे अधिकाधिक लोगोंका मनोरंजन और कल्याण हो सके। रेडियो-वार्त्ताकी सार्थकता भी इसी बातमें है कि वह अधिकाधिक लोगोंतक पहुँच सके और यह कार्य वार्त्तामें प्रयुक्त भाषापर ही निर्भर है। रेडियो-वार्त्ताके बनने-बिगड़नेका सारा उत्तरदायित्व भाषापर ही है। इस दृष्टिसे भाषाके प्रश्नपर गम्भीरतासे विचार करना प्रत्येक वार्त्ताकारका कर्तव्य हो जाता है।

रेडियो-वार्त्ता अधिकाधिक लोगोंकी समझमें आ सके इसके लिए आवश्यक है कि वार्त्ताकी भाषा उन लोगोंकी भाषा हो जिनके लिए वार्त्ता प्रसारित की जा रही है। यह बात कई स्तरोंपर ध्यान देनेकी है। सबसे पहला स्तर बहुत ही स्पष्ट है हिन्दी-भाषियोंके लिए प्रसारित वार्त्ताकी भाषा हिन्दी ही होनी चाहिए, उसे हिन्दी-अंग्रेजी हिन्दी-संस्कृत या हिन्दी फ़ारसीका मिश्रण नहीं होना चाहिए। यह बड़ी सीधी-सी बात है पर इसपर हमारे यहाँ ध्यान नहीं दिया जाता। यह सर्वविदित है कि कितने कम हिन्दी-भाषी अंग्रेजी संस्कृत या अरबी-फ़ारसी जानते हैं और किसी

यह निश्चित रूपसे स्पष्ट है। लियोनेल फैमलिन अपने यहाँकी रेडियो-वार्ताओंके सम्बन्धमें कहते हैं— प्रसारणकर्ताओंकी अंग्रेजी सरलतम होनी चाहिए, उसे अधिकाधिक श्रोताओंके लिए बोधगम्य होना चाहिए। इसका तात्पर्य यह कि उसे बिलकुल स्थानीय नहीं होना चाहिए। यह कथन अक्षरशः सत्य है। रेडियो-वार्ताका धरातल बहुत ही विस्तृत और व्यापक होना चाहिए, उसे अधिकसे-अधिक लोगोंके पास पहुँचना चाहिए, इसके लिए बोलियोंके व्यवहारसे बचना आवश्यक है। हाँ जहाँ वार्ताकार एक अंचल-विशेषके लिए ही वार्ता प्रसारित कर रहा हो वहाँकी बात दूसरी है।

अभी पहले कहा गया है वार्ताकी भाषा उन लोगोंकी भाषा होनी चाहिए, जिनके लिए वह प्रसारित की जा रही हो। इसका अर्थ यह भी है कि वार्ताकी भाषा श्रोता वर्गके अनुरूप होनी चाहिए। वार्ताएँ विभिन्न वर्गोंके लिए प्रसारित की जाती हैं—सामान्य शिक्षित व्यक्तियोंके लिए, ग्रामीण जनताके लिए, बच्चोंके लिए, स्कूलोंके छात्रोंके लिए, कालेजोंके युवकोंके लिए। इन सभी वर्गोंकी अपनी भाषाएँ होती हैं वार्ताओंके समझनेकी अपनी सीमाएँ होती हैं। इसपर ध्यान देना वार्ताकारका कर्तव्य है। जिस भाषामें सामान्य शिक्षित व्यक्तियोंके लिए वार्ता प्रसारित की जायेगी उसीमें बच्चोंकी वार्ताएँ नहीं प्रसारित की जा सकतीं। कुछ वार्ताकार इस बातपर ध्यान देते हैं कुछ नहीं देते। ध्यान नहीं देनेवालोंमेंसे एकका उदाहरण देखिए, 'ग्राम जगत्' के लिए प्रसारित जनताकी सुरक्षा शीर्षक वार्ताकी ये पंक्तियाँ हैं :

'मनुष्य जिन अधिकारोंका उपभोग करता है, उनमेंसे अधिकतर समाज की देन हैं। अध्यापक मिल मालिक पिता राजा और जमींदारको क्रमशः छात्र, मजदूर, पुत्र प्रजा और असामीपर अधिकार होते हैं। परन्तु न तो इन अधिकारोंका अस्तित्व चिरस्थायी है न स्वयं। समाजवादी व्यवस्थामें मिल-मालिक ही नहीं होता निःसन्तान मनुष्यके लिए पिता शब्दका व्यवहार नहीं हो सकता, प्रजातन्त्रमें न राजा होता है न राजाओंके अधिकार

हो सकते हैं। बहुतसे अधिकार क़ानून द्वारा प्राप्त होते हैं और क़ानून उन्हें छीन भी सकता है।

['सारथि', १ से १५ सितम्बर १९५४]

अपने श्रोताओंकी सीमाओंपर ध्यान रखनेवाले वार्ताकारोंमेंसे भी एक-का उदाहरण देखा जा सकता है, 'ग्राम जगत्'के लिए प्रसारित 'ब्याहका ढोल और उसका निवारण' शीर्षक वार्ताकी ये पंक्तियाँ हैं

आज किशन चाचाके यहाँ शादीकी धूमधाम मालूम होती है। कहते हैं वह नागपुरसे लाये हैं कीमती कपड़े और हार भर सामान भी। और बहुत धूमधामसे मनायी जायेगी शादी। कहाँसे आया इतना पैसा? बेचारा यह छोटा-सा काश्तकार तो बैलोंसे इतना परिश्रम करता है लेकिन कभी मालामाल नहीं दीखता। पर शादीके लिए तो बहुत ख़र्च कर रहा है। कुछ रक़म मिली है भूमि जोतनेके लिए, और सुनते हैं कि करोड़ीमल साहूकारसे कर्ज़ भी लिया है। शायद इसी रक़मसे यह शादी रोशनी हो रही है।

['सारंग' १ से १५ जनवरी १९५१]

सामान्य शिक्षित व्यक्तियोंके लिए प्रसारित वार्ताओंमें भी यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उनमें ऐसे कठिन शब्द न आयें जिन्हें श्रोता न समझ सकें। रेडियो-वार्ताकी भाषाका ऐसे धरातलपर रहना अपेक्षित है कि वह अधिकसे-अधिक लोगोंके लिए ग्राह्य हो सके। इस दृष्टिसे रेडियो वार्तामें सुन्दर दीखनेवाले बड़े-बड़े शब्दोंका कोई मूल्य नहीं है। अनातोले फ्रांसने कहा था—'यदि आप समझ नहीं पाते तो संसारके सुन्दरतम शब्द भी निरर्थक ध्वनियाँ हैं।' इसी सत्यको जेनेट डनबर दुहराती है—'वार्ता-में साहित्यिक पदावलियाँ अर्थहीन होती हैं।' रेडियो-वार्ताकारको ऐसी पदावलियोंसे बचना चाहिए, इसे सभी रेडियो-विशेषज्ञ स्वीकार करते हैं। बी० बी० सी०के प्रसिद्ध वार्ताकार जॉन हिल्टनके सम्बन्धमें एलन

यह निश्चित रूपसे ग्राह्य है। डियोनेक यैमकिन अपने यहाँकी रेडियो वार्ताओंके सम्बन्धमें कहते हैं— प्रसारणकर्ताकी अपेक्षी सरलतम होनी चाहिए, उसे अधिकाधिक श्रोताओंके लिए बोधगम्य होना चाहिए। इसका तात्पर्य यह कि उसे बिल्कुल स्थानीय नहीं होना चाहिए। यह कथन अक्षरशः सत्य है। रेडियो-वार्ताका प्रभाव बहुत ही विस्तृत और व्यापक होना चाहिए, उसे अधिकसे-अधिक लोगोंके पास पहुँचना चाहिए, इसके लिए बोलियोंके व्यवहारसे बचना आवश्यक है। हाँ जहाँ वार्ताकार एक अंचल-विशेषके लिए ही वार्ता प्रसारित कर रहा हो वहाँकी बात दूसरी है।

अभी पहले कहा गया है वार्ताकी भाषा उन लोगोंकी भाषा होनी चाहिए, जिनके लिए वह प्रसारित की जा रही हो। इसका अर्थ यह भी है कि वार्ताकी भाषा श्रोता वर्गके अनुरूप होनी चाहिए। वार्ताएँ विभिन्न वर्गोंके लिए प्रसारित की जाती हैं—सामान्य शिक्षित व्यक्तियोंके लिए, ग्रामीण जनताके लिए, बच्चोंके लिए, स्कूलोंके छात्रोंके लिए, कालेजोंके युवकोंके लिए। इन सभी वर्गोंकी अपनी भाषाएँ होती हैं वार्ताको उन सबकी अपनी सीमाएँ होती हैं। इनपर ध्यान देना वार्ताकारका कर्तव्य है। जिस भाषामें सामान्य शिक्षित व्यक्तियोंके लिए वार्ता प्रसारित की जायेगी उसीमें बच्चोंकी वार्ताएँ नहीं प्रसारित की जा सकतीं। कुछ वार्ताकार इस बातपर ध्यान देते हैं कुछ नहीं देते। ध्यान नहीं देनेवालोंमेंसे एकका उदाहरण लीजिए, 'ग्राम जगत्' के लिए प्रसारित 'जनताकी मुक्ता' शीर्षक वार्ताकी ये पंक्तियाँ हैं :

'मनुष्य जिन अधिकारोंका उपयोग करता है उनमेंसे अधिकतर समाज की देन हैं। अध्यापक मिल मालिक पिता राजा और ईश्वरको क्रमशः छात्र मजदूर, पुत्र प्रजा और अनीश्वर अधिकार होते हैं। परन्तु न तो इन अधिकारोंका अस्तित्व चिरस्थायी है न स्वतन्त्र। समाजवादी व्यवस्थामें मिल-मालिक ही नहीं होता निःसन्तान मनुष्यके लिए पिता शब्दका व्यवहार नहीं हो सकता, प्रजातन्त्रमें न राजा होता है न राजाओंके अधिकार

हो सकते हैं। बहुतसे अधिकार कानून द्वारा प्राप्त होते हैं और कानून उन्हें छीन भी सकता है।'

['सारंग,' १ से १५ दिसम्बर १९५४]

अपने श्रोताओंकी सीमाओंपर ध्यान रखनेवाले वार्ताकारोंमेंसे भी एक-का उदाहरण देखा जा सकता है, 'ग्राम जगत्'के लिए प्रसारित 'कर्जका बोझ और उसका निवारण' शीर्षक वार्ताकी ये पंक्तियाँ हैं

आज किसन चाचाके यहाँ शादीकी धूमधाम मालूम होती है। लड़के है यह नागपुरसे गहने लाया है कीमती कपड़े और घर भर बर्तन भी। और बहुत धूमधामसे मनायी जायेगी शादी। कहाँसे आया इतना पैसा? बेचारा यह छोटा-सा काश्तकार तो बेकोस इतना परिश्रम करता है लेकिन कभी मालोमाल नहीं होता। पर शादीके लिए तो बहुत खर्चा कर रहा है। कुछ तकावी मिली है कुआँ खोदनेके लिए, और सुनते हैं कि करोड़ीमल साहूकारसे कर्ज भी लिया है। शायद इसी रकमसे यह भारी रोशनी हो रही है।

['सारंग' १ से १५ जनवरी १९५३]

सामान्य शिक्षित व्यक्तियोंके लिए प्रसारित वार्ताओंमें भी यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उनमें ऐसे कठिन शब्द न आयें जिन्हें श्रोता न समझ सकें। रेडियो-वार्ताकी भाषाका ऐसे धरातलपर रहना अपेक्षित है कि वह अधिकसे-अधिक लोगोंके लिए ग्राह्य हो सके। इस दृष्टिसे रेडियो वार्तामें सुन्दर शैलीवाले बड़े-बड़े शब्दोंका कोई मूल्य नहीं है। अनातोले फ्रांसने कहा था—'यदि आप समझ नहीं पाते तो संसारके सुन्दरतम शब्द भी निरर्थक ध्वनियाँ हैं। इसी सत्यको जेनेट डनबर दुहराती हैं—'वार्ता-में साहित्यिक शब्दावलियाँ अर्थहीन होती हैं। रेडियो-वार्ताकारको ऐसी शब्दावलियोंसे बचना चाहिए, इसे सभी रेडियो-विशेषज्ञ स्वीकार करते हैं। बी० बी० सी०के प्रसिद्ध वार्ताकार जॉन हिल्टनके सम्बन्धमें एकत्र

एल्फ डोरोथियम एकनका कथन है—'वास्तवमें वे अपनी वार्ता लिखनेमें अथक परिश्रम करते थे—जिस साहित्यिक परम्परामें वे पले थे उससे लड़ते हुए, लोकप्रिय भाषाकी खोज करते हुए, और 'अच्छी अंग्रेजी'को पीछे छोड़ते हुए।' यौन हिस्टमका उदाहरण प्रत्येक रेडियो-वार्ताकारका आदर्श होना चाहिए। कठिन साहित्यिक शब्दोंका मोह छोड़कर ही कोई वार्ताकार सफल वार्ताकी रचना कर सकता है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस दृष्टिसे 'अद्यावधि विकास हो रहा है' के स्थानपर 'अभी तक विकास हो रहा है' अधिक उचित समझा जायेगा।

शब्दोंकी चर्चा चल रही है तो यहीं यह भी कह दिया जाय कि वार्ताकारको ऐसे शब्दोंके व्यवहारसे बचना आवश्यक होता है जो समान उच्चारणके कारण अवबोधमें बाधक होते हैं। 'चीनी बच्चे' की अपेक्षा 'चीन देशके बच्चे' कहना अधिक अच्छा होगा। इसी प्रकार सुरुचिमें बाधक शब्दोंसे भी बचना उचित है। 'उत्तम सांडोंसे' के बदले 'इतने वर्षोंसे' कहना प्रशंसनीय कहा जायेगा।

रेडियो-वार्ताकी भाषा ठीक-ठीक सम्बन्धमें सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह स्मरणीय है कि उसका आधार भाषाका लिखित रूप नहीं, वाच्य रूप होना चाहिए। इस दृष्टिसे भी मुद्रित निबन्धों और प्रसारित वार्ताओंमें अन्तर होता है। यह बात उदाहरणसे स्पष्ट हो जाएगी। जैसा पहले कहा जा चुका है हमारे यहाँ अधिकतर निबन्ध ही प्रसारित होते हैं, फलतः प्रसारित वार्ताओंमें ही हमें मुद्रित भाषाके अनेक उदाहरण मिल जायेंगे। प्रस्तुत उदाहरण 'भारतकी पुरानी राजनीति' शीर्षक वार्ता-का है

'यद्यपि आनुवंशिक राजसत्ता प्राचीन भारतमें भी मिलती है, परन्तु राजाका उत्तराधिकारी विनय नियमबद्धता वृद्धोपसेवा विद्याप्राप्ति सुमंमति सत्यवादिता धर्मप्रियता इत्यादि गुणोंसे विभूषित होनेपर ही राजा बन सकता था और किसीके राज्यपर अभिषिक्त होनेके लिए वैदिक काल

में सभा तथा समितिकी और रामायणकाल तथा महाभारतकालमें पौरजानपद संस्थाओंकी स्वीकृति अनिवार्य होती थी।

[रेडियो संग्रह, अक्तूबर दिसम्बर १९५१]

इस अंशके केवल कठिन शब्द ही नहीं, बल्कि इसका वाक्य-संगठन भी इस बातकी ओर संकेत करता है कि यह भाषाका भाषित रूप नहीं लिखित रूप है यह रूप बोलने और सुननेके लिए नहीं लिखने और पढ़नेके लिए है। हम बोलते समय लम्बे-लम्बे वाक्योंका व्यवहार नहीं करते मिश्र और संयुक्त वाक्यसे बहुत कम काम लेते हैं, हमारे शब्द और वाक्य ऐसे होते हैं जिनके बोलनेमें किसी प्रकारकी कठिनाई नहीं होती और जिनको समझनेमें भी सुननेवालोंको मानसिक व्यायाम नहीं करना पड़ता। निबन्धोंमें भाषाका लिखित रूप भले ही चल जाय रेडियो-वार्ताओं-में नहीं चल सकता। इसलिए वार्ताकारको इस ओर अवश्य ही ध्यान देना है उसे भाषाके उच्चरित स्वरूपका आधार ग्रहण करना है। रेडियो वार्ताकी क्या अभिव्यंजना-शैली वाक्य शब्द, सबका हमारी बोलचालकी भाषाके निकट रहना अपेक्षित है। जैनेट डनबरके अनुसार 'वार्ताका आलेख लिखनेमें सामान्य वार्तालापकी लय बड़ी अच्छी पथ-निर्देशिका है।

इस सम्बन्धमें एक बात ध्यान रखनेकी अवश्य है कि रेडियो-वार्ताकी भाषाको हमारी बोलचालकी भाषाके निकट रहना है उसे बोलचालकी भाषा नहीं हो जाना है। रेडियो-वार्ता और सामान्य वार्तालापमें अन्तर है। रेडियो-वार्ता साहित्यिक कृति है उसमें शक्ति चाहिए प्रभावोत्पादकता चाहिए, चुस्ती चाहिए। बोलचालमें बिखराहट होती है स्थान-स्थान पर अधूरे वाक्य होते हैं बातों और शब्दोंकी निरर्थक आवृत्तियाँ होती हैं 'तब तो बस 'अच्छा समझे?' जैसे अनेक शब्दोंका बहुलताके साथ व्यवहार होता है। रेडियो-वार्तामें इन सबके व्यवहारसे उसकी शक्ति में क्षीणता आती है। इसीलिए अनुभवी प्रसारणकर्त्ता रेडियो-वार्ताको बोल

वाक्यके निकट रखते हुए भी उससे दूर रखनेका परामर्श देते हैं। सैमेट इसपरका ही विचार किया जाय—'रेडियो-भाषेषकी दृष्टिसे स्वाभाविक वार्ता दैनिक व्यवहारकी भाषाकी मुहावरेदार और प्रामाणिक अभिव्यक्ति है उसका प्रभाव' प्रस्तुतीकरण नहीं है। एलन ऐण्ड डोरोथियन एलनके अनुसार, 'प्रतिदिनकी भाषाको निश्चित शब्दावलियों और भावनाओंके रूपमें ठीक बना देना महान् प्रसारणकर्ताकी महत्त्वपूर्ण विशेषताओंमें है। इन विशेषताओंकी उपलब्धिके लिए आवश्यक है कि वार्ताके शब्द और वाक्य सरल सुबोध होते हुए भी दैनिक व्यवहारके कारण बिल्कुल घिसे-पिटे न हों ऐसे घिसे-पिटे शब्दोंमें अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न करनेकी क्षमता नहीं होती अक्रेमजीने कहा ही है—बासन अधिक घिसनेसे मुलम्मा छूट जाता है।

बिलकुल बोलचालकी भाषाके व्यवहारसे रेडियो-वार्ताओंमें जो दुर्बलताएँ आती हैं इनके सम्बन्धमें भी प्रसारणकर्ताओंने विचार किया है। उनके अनुसार 'अच्छा' 'आप समझते हैं' जैसे शब्दोंका अधिक व्यवहार वार्ताकी बोधगम्यतामें बाधक होता है। अतः वार्ताकारको इसपर भी ध्यान देना चाहिए।

बोलचालके निकट रहकर भी भाषा बोलचालकी दुर्बलताओंसे मुक्त रहे, इसमें शक्ति रहे सरलता रहे बोधगम्यता रहे, वह बोलनेमें सहज और सुविधाजनक हो, इन सभी दृष्टियोंसे इस पुस्तकमें पहले उद्धृत विनोबा भावेके प्रवचनोंके अंशोंका अध्ययन किया जा सकता है। हाँ इन प्रवचनोंमें वक्ताकी बोलचालकी अपनी लय है जो सभी स्थानोंपर परिलक्षित होगी। यह भी व्यक्तित्वका एक अंग है। प्रत्येक वक्ताकी अपनी लय होती है इसपर ध्यान देना उसके सहारे अपनी अभिव्यक्ति करना अपने व्यक्तित्वका अभिव्यक्त करना है जो रेडियो-वार्ताके लिए अनिवार्य है।

अब उनके विवेचनसे यह स्पष्ट है कि रेडियो-वार्ताकी भाषा पुस्तकी

की निर्जीव भाषा नहीं है, प्रत्यक्ष सम्भाषणकी सजीव भाषा है। इसके लिए बड़ी ही प्राणवन्त शैलीकी अपेक्षा है, ऐसी शैली जिसके शब्द बोलते हों चित्र-निर्माण करते हों जो श्रोताओंको अपने सौन्दर्यके प्रति आकृष्ट न कर अपने पीछे उफनाते भावों-विचारोंके प्रति आकृष्ट करते हों जिसके वाक्योंमें गति हो प्रवाह हो लयात्मकता हो सप्राणता हो। भाषित शब्दों-की शक्तिपर आधारित ऐसी ही जीवनमयी भाषा-शैली रेडियो-वार्ताको सफल बना सकती है।

रेडियो-वार्ता-प्रसारण

रेडियो-वार्ताकार केवल लेखक ही नहीं अभिनेता भी है। वार्ता-लेखनकी समाप्तिके साथ ही वह लेखकका दायित्व पूरा कर लेता है, और उसके ऊपर अभिनेताका उत्तरदायित्व आ जाता है। अब उसकी वार्ता नाटक बन जाती है, और वह उसका मुख्य अभिनेता हो जाता है। रेडियो वार्ता एकपात्री नाटक है जिसका मुख्य पात्र वार्ताकार होता है। इस नाटकमें वह किसी दूसरे व्यक्तिका अभिनय नहीं करता स्वयं अपना अभिनय करता है, अपने व्यक्तित्वमें निहित विशेषताओंको उद्भासित करता है। इस अभिनयकी सफलतापर ही वार्ता-प्रसारणकी सफलता निर्भर है। अच्छीसे-अच्छी लिखी हुई वार्ता भी प्रसारण-सम्बन्धी दुर्बलताके कारण बिलकुल प्रभावहीन और असफल हो जाती है। इसीलिए प्रसारणके ऊपर भी ध्यान देना वार्ताकारके लिए आवश्यक है। जैसे नाटककी सफलता रंगमंचपर सिद्ध होती है उसी प्रकार रेडियो-वार्ताकी सफलता स्टूडियोमें माइक्रोफोनपर। वार्ताकार किस प्रकार माइक्रोफोनपर अपना स्वाभाविक विश्वसनीय और प्रभावोत्पादक अभिनय प्रस्तुत करे इस विषयसे वार्ताकारको परिचित होना चाहिए।

यह विचित्र बात ज्ञात होती है कि जहाँ रंगमंचीय या रेडियो-नाटकके अभिनयके लिए काफी अभ्यास और प्रशिक्षणकी आवश्यकता समझी जाती है वहाँ सामान्य वार्ताकार एक रिहर्सल ही नहीं एक बारका अभ्यास भी

अनावश्यक मानता है। प्रोड्यूसर दोपहरम अपने वार्ताकारसे टेलीफोनपर कहता है—'इतवार शामको एक-डेढ़ घण्टे पहले आ जाइए, तो रिहर्सल हो जायगा। उसे उत्तर मिलता है—'रिहर्सलकी क्या जरूरत है ? मैंने पढ़ कर देख लिया है, सब ठीक है। मैं १५ मिनट पहले आ जाऊँगा।' यह तो नये वार्ताकारोंकी बात है, पुराने वार्ताकार कहेंगे, मुझे रिहर्सलकी क्या जरूरत मैं तो पाँच वर्षोंसे वार्ताएँ प्रसारित करता आ रहा हूँ [काश उन्हें पता होता कि पाँच वर्षोंसे उनकी वार्ताएँ कोई सुनता भी आ रहा है या नहीं।] और प्रसारणके निश्चित समयसे दो-चार मिनट पहले स्टूडियोमें आ जायेंगे। ऐसी स्थितिमें आकाशवाणीसे प्रसारित वार्ताएँ अनाकर्षक और प्रभावहीन होती हैं तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। वार्ता-प्रसारणके पहले रिहर्सलकी अनिवार्यताके सम्बन्धमें जॉन एस० कार्लाइलका यह विचार उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा—'रेडियो-वार्ता-प्रसारणके कुछ ही मिनट पहले माइक्रोफोनके सामने पहली बार किसी भी व्यक्तिको नहीं जाना चाहिए, वार्ताकारको रेडियोका अनुभव पहलेसे कितना भी अधिक क्यों न हो'। प्रसारण संस्थाएँ वार्ता-प्रसारणके पहले हमेशा ही माइक्रोफोन रिहर्सलके लिए एक समय निश्चित करती हैं। उसमें बिताये गये समयका पुरस्कार वार्ताकार और श्रोता दोनोंको ही मिलता है।

रिहर्सलसे कितनी परेशानियोंकी बचत हो जाती है यह रेडियोसे सम्बद्ध व्यक्ति ही जानते हैं। इस सम्बन्धमें आगे कुछ चर्चा करनेके पहले अपना एक मनोरंजक अनुभव प्रस्तुत करनेकी इच्छा होती है। कॉलेजके एक प्राध्यापक पहली बार एक वार्ता प्रसारित करने आये—निश्चित समयसे तीन-चार मिनट पहले। और कुछ कहनेका समय था नहीं स्टूडियो-में पहुँचकर मैंने इतना कह दिया कि 'ठीक समयपर दूसरे स्टूडियोसे एनाउन्सर आपका नाम एनाउन्स करेंगे और उसके बाद आपके सामने दीवार पर घड़ीके नीचेवाली बत्ती जलेगी तब आप अपनी वार्ता शुरू करेंगे। और हाँ वार्ता समयसे खतम कर दीजिएगा। समय हो गया था और मैं

रूम [स्टूडियोकी बगलका छोटा-सा कमरा, जिसमें एनाउन्सर, प्रोड्यूसर आदि बैठते हैं] में चला गया लेकिन मुझे लग रहा था कि वार्ताकारने मेरी बातें सुनी नहीं हैं क्योंकि वे मानसिक घबड़ाहटकी स्थितिमें थे। दूसरे स्टूडियोसे एनाउन्सरने घोषणा की—'अब .... —श्री वार्ता सुनिए। श्री............ ..। अपना नाम सुनायी पड़ा नहीं कि वार्ताकारने वार्ता शुरू कर दी। मैंने देखा उनका मुँह चल रहा है, मगर उनकी आवाज मुझे नहीं मिल रही थी क्योंकि मुझे रूममें कन्ट्रोल रूम [जहाँ इंजीनियर बैठते हैं, और जहाँसे वे स्टूडियो आदिका संचालन करते हैं] से सिग्नल [रोशनीका वह संकेत जिससे यह ज्ञात होता है कि अब यह स्टूडियो काम कर रहा है और यहाँसे कार्यक्रम प्रसारित किया जाय] नहीं मिला था। मुझे जब सिग्नल मिला तो मैंने उनके स्टूडियोमें सिग्नल दिया जहाँके नीचेकी लाल बत्ती जल उठी। उस समय वार्ताकार अपने किसी वाक्यके बीचमें थे श्रोताओंने भी उन्हें पहलेसे सुना होगा। वार्ता सुनते हुए मैं सोच रहा था कि सम्भव है, वार्ताकार निश्चित समयसे आगे बढ़नेकी कोशिश करें उस समय उनकी वार्ताको किसी अच्छी जगहपरसे काट देनेके लिए तैयार रहना चाहिए। वार्ताकार वार्ता पढ़ते जा रहे थे उनकी आवाज बतला रही थी कि उनके भीतर घबड़ाहट बहुत अधिक है मैंने घड़ी देखी अभी तीन मिनट बाकी थे। वार्ताकारको भी शायद सम[य] की याद आयी उन्होंने भी सिर उठाकर सामनेकी घड़ी देखी फि[र] सहसा चुप हो गये—वाक्यके मध्यमें ही। मैं चौंक गया कि यह क्या हो गयी। सामने देखता हूँ तो वार्ताकार शान्त भावसे कुर्सीपर बैठे लाचार होकर मैंने स्टूडियोका सिग्नल ले लिया। स्टूडियोमें आकर पूछा—'अभी तो तीन मिनट थे आप बीचमें ही क्यों चुप हो उन्होंने कहा—'आपने सामने यह लाल बत्ती दिखला दी तो मैं स पढ़ें।' मैं समझ गया लाल बत्ती सब जगह रुकनेका संकेत है वा उसे यहाँ भी यही समझा।

रिहर्सलसे केवल इस तरहकी सामान्य बातोंकी ही जानकारी नहीं हो जाती बल्कि और भी अनेक सुविधाएँ होती हैं। नये वार्ताकारको यह ज्ञात नहीं होता कि उसे किस गतिसे वार्ता प्रसारित करनी है, अपने घरपर जिसे वह दस मिनटकी वार्ता समझता है, वह स्टूडियोकी दृष्टिसे पन्द्रह मिनटकी वार्ता हो जाती है उसे काट-छाँटकर दस मिनटकी सीमामें बाँधनेका काम रिहर्सलमें ही हो पाता है। इसके अतिरिक्त उसे इस बातकी भी जानकारी मिलती है कि वह आलेखके पन्नोंको किस प्रकार उलटे और रखे कि उनसे खड़खड़ाहट न हो वह माइक्रोफोनसे कितनी दूरपर बैठे उसकी आवाज कितनी ऊँचाईपर रहे, वह वार्ता किस प्रकार प्रसारित करे किन शब्दोंपर जोर दे आदि। रिहर्सलकी उपयोगिता निःसन्दिग्ध है उसके लिए रेडियो-अधिकारियोंका आमन्त्रण स्वीकार करना और आमन्त्रण न मिलनेपर उसके लिए स्वयं आग्रह करना प्रत्येक वार्ताकारका कर्तव्य है।

अब प्रसारणकी कुछ अपेक्षित विशेषताओंपर विचार किया जाय। वार्ता प्रसारित करते समय साधारणतः दो कठिनाइयाँ वार्ताकारके सम्मुख आती हैं। पहली कठिनाई यह है कि अनेक वार्ताकारोंको माइक्रोफोनका भय होता है। माइकके सामने आते ही उनमें घबड़ाहट आ जाती है। सम्भवतः इसका कारण यह है कि वे सोचते हैं अमुक-अमुक व्यक्ति मेरे अमुक प्रतिद्वन्द्वी मेरी वार्ता सुनते होंगे, यदि वार्ता अच्छी नहीं हुई तो लोग क्या कहेंगे मेरे प्रति क्या-क्या धारणाएँ बनायेंगे। दूसरी कठिनाई यह है कि वार्ताकारका प्रसारण निर्जीव और प्राणहीन हो जाता है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि वार्ताकारके सामने स्टूडियोमें दूसरा कोई नहीं रहता जिससे वह वार्ता निवेदित करे और जिसकी प्रतिक्रियासे उसकी वाणी में सजीवता आये। ऐसी स्थितिमें वार्ताकारके पन्थभ्रष्ट हो जानेका भय रहता है, इसका संकेत हम पहले ही कर आये हैं। इस भयको दूर करना वार्ताकारकी वाणीमें जीवन के आना प्रसारण कलाकी सबसे बड़ी अपेक्षा है। जैनेट डनबर कहते हैं—'वास्तवमें जिस वस्तुका मूल्य है, वह यह है

कि आपकी आवाजमें जीवन हो। यह कुछ ऐसा काम है जिसे कोई भी प्रोड्यूसर आपके लिए नहीं कर सकता। वह आपसे यह कह सकता है कि माइक स्वीकारपर आप बिलकुल सपाट अथवा निर्जीव लगते हैं और आपकी वाणीमें कुछ जीवन लानेका प्रयत्न कर सकता है। लेकिन यह टेक्निकल बात नहीं है यह बिलकुल मनोवैज्ञानिक चीज है। इसका समाधान आप स्वयं अपनेसे ही कर सकते हैं।

जिन दो कठिनाइयोंकी ओर संकेत किया गया दोनों ही मनोवैज्ञानिक हैं और इनका समाधान भी मनोवैज्ञानिक ही हो सकता है। सभी अनुभवी प्रसारणकर्त्ताओंने इसका एक ही समाधान दिया है कि वार्त्ताकार वार्त्ता प्रसारित करते समय अपनी मानसिक दृष्टिके सम्मुख अपने किसी प्रिय व्यक्ति परिचित अथवा सम्बन्धीका चित्र रखे और यह अनुभव करे कि वह निर्जीव माइकमें न बोलकर अपने प्रिय व्यक्तिसे ही बातें कर रहा है। जैनेट डनबर यही परामर्श देती हैं। इसके द्वारा वार्त्ताकारकी वाणीमें सजीवता आ सकती है। जॉन एच० व्हाइटिंग कहते हैं—'वार्त्ताकार माइक स्वीकारके सामने अपने किसी परिचित व्यक्तिका चित्रित करना अपने लिए उपयोगी समझ सकता है।' एडवर्ड ऐण्ड रोथेस्टिमन एवम् इसी विचारका समर्थन करते हैं—'अपने सन्देशको मानवीय बनानेके लिए अनेक प्रसारणकर्त्ताओंको माइक्रोफोनके दूसरे छोरके मानसिक चित्रकी आवश्यकता होती है वे केवल माइक्रोफोनमें ही नहीं बोल सकते, उनके परेकी भी सोचते हैं।

प्रसिद्ध वार्त्ताकारोंके अनुभव इस मनोवैज्ञानिक समाधानकी सत्यताको सिद्ध करते हैं। 'पुष्प विलियम' पुस्तकमें दिये गये कुछ अनुभव इस प्रकार हैं जे० बी० प्रीस्टली अपने श्रोताओंको चार-चार या पाँच-पाँचकी मण्डलियोंमें कल्पित करते हैं जिन्हें वे अपनी बात सावधानीपूर्वक समझाना चाहते हैं। डेसमण्ड मैकार्थी अपना आशय इस प्रकार दिखाते हैं जैसे वे अपने सामने बैठे हुए व्यक्तिको अपनी बातें समझा रहे हों। वाल्टर्ड डेकिन अपने

किसी एक मित्रकी कल्पना करते थे। ए० जे० एलन अनुभव करते थे कि व अपने घरमें अलावके सामने बैठे अपने किसी आत्मीयसे अपनी साहसिक कहानियाँ कह रहे हों। इन प्रसारणकर्ताओंके अनुभवोंका उपयोग कोई भी वार्ताकार कर सकता है, यों यह सरल काम नहीं है। एकान्तके ही क्षणोंमें मुद्रित वाक्यको स्वाभाविक लगनेवाली शैलीमें पढ़नेका प्रयत्न करते समय ऐसा मानसिक चित्र अपने सम्मुख स्पष्ट रखना कोई आसान काम नहीं है और अनेक प्रसारणकर्ता अनुभव करते हैं कि व ऐसा नहीं कर सकते फल यह होता है कि वे इस बातका आभास दे देते हैं कि वे केवल लिखित शब्दोंकी ही रक्षा कर रहे हैं। फिर भी वार्ताकार मानसिक भ्रम और निर्विकास बचनके लिए इस दिशामें प्रयत्न कर सकता है।

व्यक्तित्वके प्रश्नकी चर्चा पहले वार्ता-लेखनके प्रसंगमें की जा चुकी है, वार्ता-प्रसारणके प्रसंगमें उसका और अधिक महत्त्व है। सबकी बोलने की अपनी शैली होती है, सबकी अपनी आवाज होती है और इन अपनी विशेषताओं दूसरे शब्दोंमें अपनी वैयक्तिकताकी अभिव्यक्ति रेडियो-प्रसारणमें होनी चाहिए। हाँ यह ध्यान रखनेकी बात अवश्य है कि शब्दोंके उच्चारण शुद्ध हों। माइक्रोफोनकी यह विशेषता कही जाती है कि वह बड़ा ही सूक्ष्मग्राही होता है और उच्चारणकी साधारण त्रुटियोंको भी बहुत बड़ा बनाकर श्रोताओंके सामने उपस्थित करता है। इसलिए वार्ताकारको अपने उच्चारणपर अवश्य ही ध्यान रखना है। हिन्दीमें तो उच्चारणकी कोई कठिनाई नहीं है, फिर भी बहुत लोग शुद्ध उच्चारण नहीं करते। यदि ह्रस्व और दीर्घ मात्राओंके उच्चारणपर ध्यान दिया जाय ष और स र और ण या ड़ व और ब—जैसे कुछेक वर्णोंके अन्तरको समझा जाय उच्चारणमें त्रुटियाँ नहीं हो सकतीं। दूसरी बात ध्यान देनेकी यह है कि वार्ताकारके उच्चारण स्पष्ट और आवाज बिलकुल साफ हो जिससे श्रोताओंको वार्ताकारकी बातें समझनेमें किसी प्रकारकी

कठिनाई न हो। जैसा पहले कहा जा चुका है, बोधगम्यता उत्तम रेडियो-वार्ताकी पहली शर्त है।

इन दोनों बातोंपर ध्यान रखते हुए अपनी वैयक्तिकताको रखना और उसकी यथावत् अभिव्यक्ति रेडियो-वार्तामें बहुत ही आवश्यक है। पी० पी० एकरस्ले कहते हैं 'व्यक्तित्व स्वाभाविक भाषणका एक अंग है। यदि किसी व्यक्तिके स्वरको अस्त-व्यस्त ढंगसे भी बोलने दिया जाय, बशर्ते कि वह समझमें आने लायक हो, वह भाषणके उस काट-छाँटवाले उच्चारणसे अधिक मनोरंजक होगा जो नीरसताको और अधिक स्पष्ट कर देता है।' इसीलिए सभी रेडियो-विशेषज्ञ वैयक्तिकताकी रक्षापर जोर देते हैं। उनके अनुसार वार्ताकारको बोलनेकी शैलीमें किसी दूसरेके अनुकरणकी आवश्यकता नहीं है। जैसा कि प्रसिद्ध वार्ताकार एलिस्टेयर कुकने कहा है अच्छे प्रसारणमें अपनेको स्वीकार करना ही सबसे बड़ी बात है। अब हर वार्ताकारका प्रयत्न यही होना चाहिए कि वह जो है वही रहे, दूसरे के व्यक्तित्वको अपने ऊपर आरोपित न करे। फिर भी उसे प्रसारणकी अपेक्षाओं जिनकी चर्चा आगे की जा रही है, की ओर अवश्य ही ध्यान देना चाहिए।

वार्ता प्रसारित करते समय वार्ताकारकी सबसे बड़ी सम्पत्ति है उसकी आवाज। यह आवाज कैसे स्पष्ट, स्वस्थ, प्रभावशाली और सुशिक्षित हो यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण विषय है। लिण्डसे मैकमिलन इसके लिए तीन मुख्य बातें बतलाते हैं—सही ढंगसे साँस लेना, साफ-साफ बोलना और भावात्मकता। पहली दोनों बातोंके लिए सही साँस लेनेके व्यायाम और मुँहको पूरा खोलने तथा मुँहके दूसरे अवयवोंसे काम लेनेके सतत अभ्यास की आवश्यकता होती है। मैकमिलनके ही शब्दोंमें मुँह, तालु और फेफड़ोंसे पूरा काम लेनेके साथ ही बोलनेकी गति उचित रखनेसे ऐसी स्पष्ट अभिव्यक्ति हो सकती है, जो किसी भी श्रोता चाहे वह दैनिक जीवनका हो या प्रसारणमें को सन्तुष्ट कर सकती है।'

भाषणमें लयात्मकता अनिवार्य है। इसके अभावमें भाषणमें जीवन नहीं होता वह यन्त्रवत् हो जाता है। भाषा भावों और विचारोंका बड़ा सजीव माध्यम है। जैसे भाव और विचार होते हैं वैसा ही भाषाका प्रवाह होता है, वैसी ही उसकी गति होती है। भावना और अनुभूति ही भाषाको जीवन देती है वह जीवन जब वक्ताकी वाणीमें परिलक्षित होता है, तभी हम कहते हैं कि उसमें लयात्मकता है उसमें सजीवता है। भावनाओं और विचारोंके अनुरूप बोलनेकी शैलीमें परिवर्तन होते रहने को ही हम लयात्मकता कहते हैं। मैगाफिन कहते हैं जब जैसे वक्ताके विचारोंकी कारके लिए पेट्रोल है, वैसे ही लयात्मकता वह तेल है जो उस गाड़ीको चिकना रखता है। यदि प्रसारण प्रेषणीयता है—आनन्दके लिए—तो प्रसारणकर्ताके लिए यही पर्याप्त नहीं है कि वह अपनी बात कह दे, बल्कि यह भी कि वह श्रोताको आन्दोलित करे। यह लयात्मकता ही है जो उसे यह काम प्रभावपूर्ण ढंगसे करनेमें समर्थ बनाती है।

जहाँ भाषणमें लयात्मकता नहीं होती वहाँ एकरसता आ जाती है, वक्ता एक ही शैलीमें प्रारम्भसे लेकर अन्त तक बोलता है। और प्रसारणमें एकरसतासे बढ़कर दूसरी खतरनाक वस्तु नहीं होती। इस दृष्टिसे प्रसारणकी वह शैली जिसमें एक निश्चित क्रमसे उतार चढ़ाव रहे, श्लाघ्य है।

भाषणमें लयात्मकता विविधताकी जननी है, इससे वार्ताका आकर्षण बढ़ता है। भाषणमें लयात्मकता के लानेके लिए प्रसिद्ध वक्ता डेल कार्नेगी ने चार उपाय बतलाये हैं [१] मुख्य शब्दोंपर जोर देना और गौण शब्दोंको दबा देना [२] भाषाकी ऊँचाईमें परिवर्तन [३] बोलनेकी गतिमें परिवर्तन और [४] मुख्य विचारोंके पहले और बादमें रुकना।

दूसरे उपायके अतिरिक्त सभी उपाय रेडियो-वार्ताके लिए भी सही ही हैं। रेडियो-वार्तामें आवाजमें अधिक परिवर्तन न सम्भव है, न अपेक्षित ही। माइक्रोफ़ोनकी सीमा होती है वह सूक्ष्मग्राही होनेके कारण जोरकी

आवाजको विकृत कर दे सकता है। इसके लिए बोलचालकी सामान्य आवाज ही उचित है। वार्ताकार पूछते हैं कि वे वार्ता प्रसारित करते समय कितने जोरसे बोलें। इस सम्बन्धमें उन्हें स्मरण रखना है कि एंगलेस और स्टूडियोमें प्रत्यक्ष भाषण और रेडियो-वार्तामें अन्तर होता है। प्रत्यक्ष भाषणमें वक्ता एक समूहको सम्बोधित करता है जबकि रेडियो-वार्ता-में वह एक या अधिकसे-अधिक चार-पाँच व्यक्तियोंको। यही कारण है कि रेडियो-वार्तामें आत्मीयताकी शैली आत्मीयताके स्वरकी आवश्यकता होती है। जॉन एस० कार्लाइल कहते हैं 'बड़ी सभाओंमें भाषण देते समय बोलनेकी भाषणीय शैली अनावश्यक है। माइक्रोफ़ोनके सामने आवाज की भाषणवाली ऊँचाईका कोई स्थान नहीं है। इसी प्रकार दो-चार व्यक्तियोंके सामने प्रत्यक्ष रूपसे बोलने और रेडियोसे बोलनेमें भी अन्तर है। एलन ऐण्ड डोरोथिया एलमका विचार है—'एक ही कमरेमें आपके साथ बैठकर कुछ और श्रोताओंसे आपसे उसी प्रकार बातें नहीं करेंगे जिस प्रकार वे रेडियोपर करते हैं। उनका ढंग आपकी प्रतिक्रियाओंके प्रति सहनशील रहेगा, सम्भवतः वह कम भाषणीय और आधिकारिक होगा। उनके शब्द मूलतः एक ही हो सकते हैं लेकिन उनकी शैली कम होगी। तात्पर्य यह कि वार्ताकारकी आवाज उसकी सामान्य वार्ता-लापकी आवाजसे कुछ भिन्न होती है। लियोनेल फील्डेन कहते हैं 'हम देखते सभी प्रथम श्रेणीके प्रसारणकर्ता धीमी आवाजमें बोलते हैं जो सामान्य वार्तालापकी आवाजसे कुछ ऊँची होती है।

ढेर कामोंमेंके बतलाये गये अन्य उपायोंका उपयोग रेडियो-वार्ताकारों द्वारा होना चाहिए। सुस्त उच्चारण और ढीले ढंगसे बोलनेकी शैलीमें ही शिथिलता नहीं आती बल्कि विचारोंकी अभिव्यक्ति भी अस्पष्ट होती है। बोलनेकी गतिके सम्बन्धमें याद रखना है कि बहुत तेजीसे बोलनेसे श्रोताओंको वार्ता समझनेमें कठिनाई होती है। इसके विपरीत गति बहुत धीमी रहनेसे लगता है, जैसे वार्तामें जीवन ही नहीं है। इसलिए

वार्ता-प्रसारणमें यतिका मध्यम मार्ग उचित हो सकता है, हाँ यह मध्यम मार्ग भी सदा एकरस न रहे, उसमें सदा परिवर्तन होता रहे, यह आवश्यक है। इसी प्रकार उचित स्थलोंपर रुकना कहीं-कहीं क्षणिक शान्ति आदि भी विविधताके लिए आवश्यक है।

वार्ता-प्रसारणमें वार्ताकारोंको अपनी स्वभावगत दुर्बलताओंसे भी बचना जरूरी है। मेरे एक मित्र हैं, जो हर वाक्यके बाद कहते हैं—'समझे न? जब वे कहने लगते हैं—'मैं उनके यहाँ खाना खाने गया था समझे न? बहुत अच्छा खाना खिलाया समझे न? तो कहनेका मन होता है—'नहीं समझे। बोलनेकी पद्धतिमें भी लोगोंकी ऐसी आदतें होती हैं जैसे कुछ लोग वाक्यके पहले शब्दपर बहुत जोर देते हैं कुछ लोग अन्तिम शब्दपर। कुछ लोग हैं जो वाक्यकी अन्तिम क्रियाओंको दूर तक खींच ले जाते हैं—'जानता हूँ—ऊँ-ऊँ। व लोग आये थे—ए-ए। ऐसी आदतें माइक्रोफोनपर बड़ी स्पष्ट परिलक्षित हो जाती हैं और इनसे बचना सफल वार्ताकारका कर्तव्य है।

जैसा इस अध्यायके प्रारम्भमें कहा गया है रेडियो-वार्ताकार लेखक भी है, और अभिनेता भी। वार्ता प्रसारित करते समय उसमें नाटकीयता अवश्य ही अपेक्षित है, पर यह देखते रहना है कि वह अतिनाटकीयतामें न बदल जाय। नाटकके अभिनयकी विशेषता उसकी स्वाभाविकतामें समझी जाती है-नाटकका अभिनय इतना स्वाभाविक हो कि दर्शक यह न समझें कि नाटक हो रहा है। यही बात रेडियो-वार्ताके सम्बन्धमें भी कही जायेगी। वार्ताका प्रसारण इतने स्वाभाविक ढंगसे हो कि श्रोताको उसमें कहीं भी नाटकीयताका आभास न मिले वह समझे कि कोई उससे स्वाभाविक रूपमें बिना किसी आयासके बातचीत कर रहा है। यही वार्ताकी सफलता कही जायेगी।

वार्ता-प्रसारणके सामान्य नियम यही हैं किन्तु सभी नियमोंके अपवाद होते हैं। रेडियोपर बोलनेवाले ऐसे अनेक व्यक्ति हुए हैं जो सभी

नियमोंको खण्डित करनेके बाद भी सफल समझे गये हैं। ऐसे तीन व्यक्तियोंकी चर्चा सोमनाथ चिबने की है। पहला है ह्विटकर जिसे 'रेडियो का मौलिक कलाकार' कहा जाता है। वह आवेगमें इतने जोरसे चिल्लाता था कि लगता था रेडियो-सेट खण्ड-खण्ड हो जायेगा फिर भी सुननेवाले सुननेको सदा उत्सुक रहते थे। दूसरा नाम चर्चिलका है जो अपनी वार्तामें अध्ययनपूर्ण साहित्यिक अभिव्यक्तियोंका व्यवहार करते हैं। तीसरे थे गांधीजी, जिनके शब्दों और शैलीकी कलाहीनता ही जिनकी कला थी। ये वार्ताकार प्रसारणके नियमोंके अपवाद हैं अवश्य लेकिन मुझे लगता है कि इनकी सफलता प्रसारणके एक सबसे बड़े नियमकी सत्यताको सिद्ध करती है कि रेडियो-वार्तामें व्यक्तित्व सबसे मुख्य तत्त्व है। जहाँ व्यक्तित्व महान् है, वहाँ नियमोंका पालन किये बिना ही वार्तामें आकर्षण आ जाता है। सामान्य व्यक्तियोंके लिए नियमोंका पालन आवश्यक है इसमें सन्देह नहीं।

रेडियो-वार्ता और प्रो० वर्ननके निष्कर्ष

अब तकके विवेचनसे यह स्पष्ट है कि रेडियो-वार्ताकारका सबसे मुख्य काम अपने लेखन एवं प्रसारणके द्वारा अपनी वार्ताको श्रोताओंके लिए सहज-ग्राह्य बनाना है। लन्दन विश्वविद्यालयके प्रो० पी० ई० वर्ननने १९५० में रेडियो-वार्ताओंकी बोधगम्यताके सम्बन्धमें अनुसन्धान-कार्य किया था। उनके निष्कर्ष बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। हमने अब तक जो विवेचन किया है, उसमें इन निष्कर्षोंका सहारा यथास्थान लिया गया है। रेडियो-वार्ता-सम्बन्धी मुख्य बातोंको रेखांकित करनेके उद्देश्यसे हम अन्त में प्रो० वर्ननके कुछ निष्कर्षोंको प्रस्तुत कर रहे हैं

[१] वार्ताकी बोधगम्यताके लिए उसके विषयका रोचक होना जरूरी है। परीक्षाके लिए जो वार्ताएँ प्रसारित की गयी थीं उनमें कई उस समयकी सामयिक घटनाओं और विज्ञानसे सम्बन्धित थीं और उनमें ऐसे बहुतसे शब्द और विचार थे, जिन्हें ध्यानसे सुननेकी आवश्यकता थी फिर भी श्रोताओंने उन्हें समझा।

[२] जिन वार्ताओंमें आधे दर्जनसे कम मुख्य बातें होती हैं वे सम-झनेमें आसान होती हैं। एक मुख्य बातकी व्याख्या और विस्तारमें वार्ता-कार एकसे दो मिनटका समय लगाता है।

[३] बोधगम्यताके लिए पुस्तकीय-गद्य-शैलीकी अपेक्षा सहज एवं सजीव शैली अनिवार्य होती है।

[४] जो विचार भाव मात्र [abstract] हैं उन्हें दृष्टान्तोंसे समझाना जरूरी है; हाँ यह ध्यान रखते हुए कि श्रोता मूल विचारोंके साथ दृष्टान्तोंका सम्बन्ध समझता रहे, और मूल विषयकी अपेक्षा दृष्टान्तोंपर ही अधिक ध्यान न दे।

[५] जिन वार्ताओंमें विचारोंका विकास तर्क-संगत रीतिसे नहीं होता व सहज बोधगम्य नहीं होतीं।

[६] कम बोधगम्य वार्ताएँ श्रोताओंमें अधिक ज्ञानका अनुमान कर लेती हैं।

[७] वार्ताको बोधगम्य बनानेके लिए मुख्य-मुख्य बातोंपर विशेष जोर देना जरूरी है।

[८] साहित्यिक शब्दावलियोंसे वार्ताकी बोधगम्यतामें बाधा पड़ती है।

[९] कठिन शब्दोंके बहुत अधिक होनेसे भी बोधगम्यतामें बाधा होती है।

[१०] संयुक्त और मिश्र वाक्योंसे युक्त लम्बे-लम्बे वाक्य भी समझने में कठिन होते हैं।

[११] बहुत अधिक वार्तालापात्मक शैलीसे भी बोधगम्यतामें बाधा पड़ती है।

[१२] वार्ता-प्रसारणके समय बोलनेकी गति तेज होनेसे भी बोधगम्यता कम होती है।

इसके आधारपर यह सहज ही कहा जा सकता है कि रेडियो-वार्ताकी विशेषताएँ हैं : सरलता स्वाभाविकता एवं सुसंगठन। इन्हें मानदण्ड बनाकर कोई भी रेडियो-वार्ता सफल होगी इसमें सन्देह नहीं।

उद्धृत रचनांशोंकी सूची

रेडियो-लेखन	सिद्धनाथकुमार
कथाके क्षेत्रमें यथार्थ और कल्पना	रामनाथ सुमन
मध्यकालमें मनोरंजनके साधन	देवीलाल सामर
संचार एवं परिवहनका विकास	कमलेश्वरी शरण
सुनीता	डॉ० धर्मवीर भारती
क्वारकी साँझ	रामनरेश पाठक
तीसरी कसम अर्थात् मारे गये गुलफाम	फणीश्वरनाथ रेणु
यह राजस्थान है	भगवतशरण उपाध्याय
बदरीनाथ	विष्णु प्रभाकर
भीलोंका देश कन्हाड़ा	गोविन्ददास
गीता-प्रवचन	विनोबा भावे
एक मोर्चेपर	रामवृक्ष बेनीपुरी
महायानमें विज्ञानवाद	रघुवीर
प्रवचन	विनोबा भावे
पंचवर्षीय योजना और नारी	गौरिका मुकर्जी
नवीन भारतके तीर्थस्थान	आर० आर० दिवाकर
आचार्य वल्लभका दरबार	डा० रामनिरंजन पाण्डेय
रोमांस	शम्भूरत्न त्रिपाठी
सर्वोदय	जयप्रकाश नारायण

जगदीशचन्द्र बोस	गोरख प्रसाद
जीवन-बीमाका राष्ट्रीयकरण	मन्मथनाथ ऐय
बच्चोंका व्यक्तित्व	चन्द्रकला दुबे
कवि-सम्मेलन और मुशायरे	रघुपतिसहाय 'फ़िराक़'
कवि-सम्मेलनोंके कड़ुवे मीठे अनुभव	डा० हरिवंशराय 'बच्चन'
पुराणोंमें प्रतीक	श्रीकमलकान्त बालेय
स्त्रियोंके कार्यक्षेत्र : पत्रकारिता	सरला गुप्ता
प्रेमचन्दकी कला	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'
बापूका पत्र-साहित्य	हरिभाऊ उपाध्याय
रामकृष्ण परमहंस	बाबूलाल पालीवाल
ऋषि दयानन्द	रामचन्द्र शर्मा
जीनेका सलीका	रशीद अहमद सिद्दीकी
हिन्दीमें व्यंग्य	नलिनविलोचन शर्मा
जननी जन्मभूमिश्च—	रामधारीसिंह 'दिनकर'
आर्य [illegible]	हरिभाऊ उपाध्याय
समताका सिद्धान्त	विश्वम्भरनाथ पाण्डेय
मेरा व्यवसाय और साहित्य-सृजन	राजेन्द्रलाल हांडा
दिल्ली—नई और पुरानी	एम० मुजीब
आजका धर्म	ब्रजनन्दन आजाद
देलवाड़ा	जैनेन्द्र कुमार
दोस्त	मिर्ज़ा महमूद बेग
पुस्तकें जिनसे मैंने सीखा	रामबहादुर
अनजानी प्रेरणा	डा० सम्पूर्णानन्द
कर्जका बोझ और उसका निवारण	एम० एम० शाह
भारतकी पुरानी राजनीति	कैलाशचन्द्र देव बृहस्पति